वाक्य-मुक्तावली

लेखक

चारु देव शास्त्री

प्रकाशक

भारतीय संस्कृत भवन

जालन्धर शहर
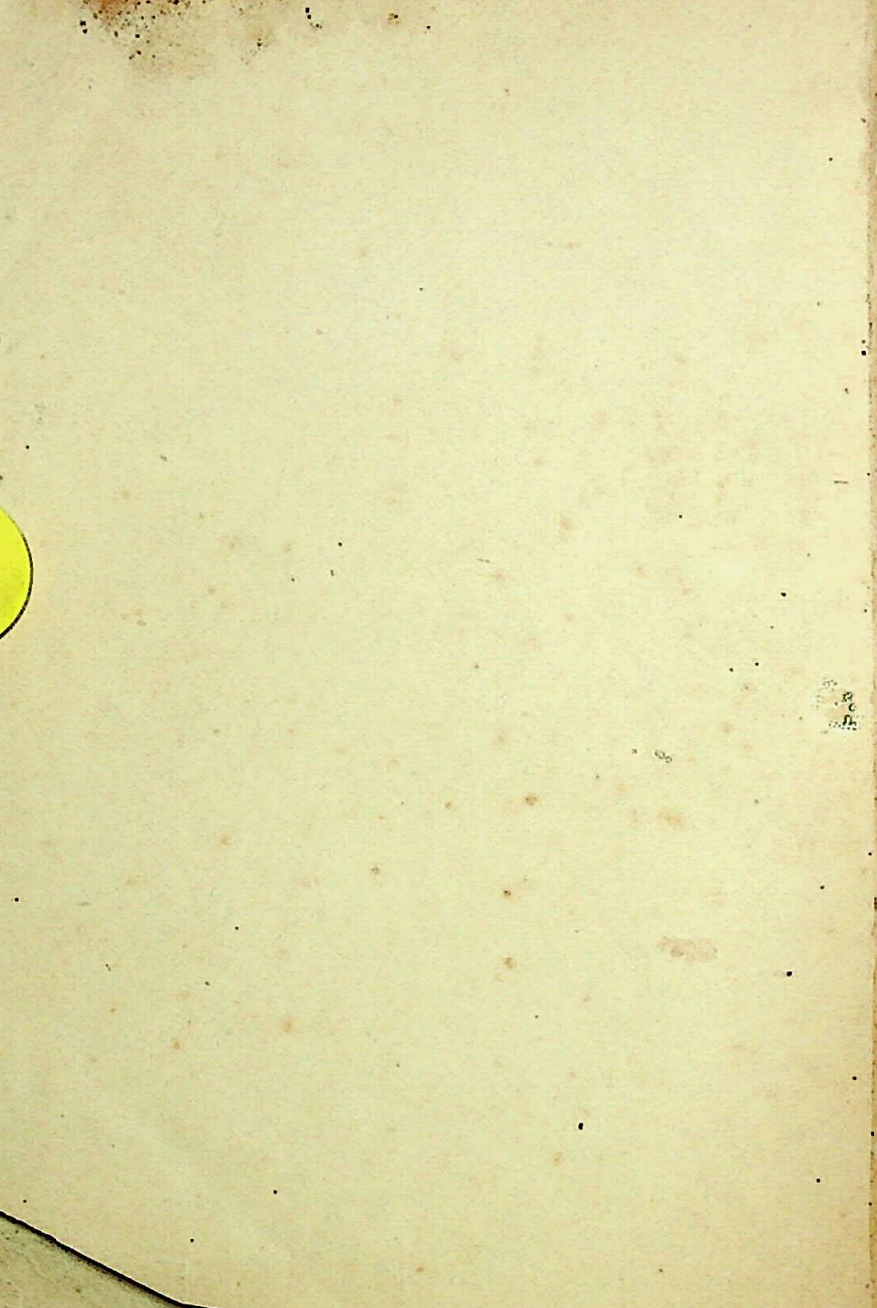
वाक्यमुक्तावली

(छात्रकदम्बकस्य वाक्सरण्यामभिविनिनीषया स्वकृतिभ्य एव
कृतो वाक्यमुक्तामयः सङ्ग्रहः)

इयं

लवपुरे संस्कृताध्यापकचरेण वाक्यपदीयस्य संस्कर्त्रा श्रीगान्धिचरितस्य प्रणेत्राऽनुवादकलोपसर्गार्थचन्द्रिकाप्रस्तावतरङ्गिणीशब्दापशब्दविवेकव्याकरणचन्द्रोदयादिग्रन्थानां निर्मात्रा श्रीरामकृष्णतनुजनुषा एम. ए. एम. ओ. ऐल् इति विरुदभाजा

श्री चारुदेवेन शास्त्रिणा

प्रणीता

सेयं

जालन्धरे 'माईहीरां' द्वारे 'भारतीयसंस्कृतभवन'स्याधीशैः
पुस्तकविक्रायैः श्रीकृष्णानन्दशास्त्रिभिः स्वेन व्ययेन
प्रकाशितः । पुनर्मुद्रणाद्यधिकारश्च
तैरेव स्वायत्तीकृतः ।

प्रथमं संस्करणम्]　　संवत् २०१३　　[मूल्यम् ३).

प्रकाशक,
श्रीकृष्णानन्द शास्त्री, भारतीयसंस्कृतभवन,
माईहीरां गेट, जालन्धर ।

मुद्रक :—
श्री देवदत्त शास्त्री, विद्याभास्कर
विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान प्रेस,
साधु आश्रम, होशिआरपुर ।

निवेदना

अस्या वाक्यमुक्तावल्या ग्रन्थने कोऽभिप्रायो ममेत्युल्लसेद् विविदिषा विदुषाम्। न हि प्रयोजनमन्तरा प्रवृत्तिः प्रेक्षावतामिति यावत् प्रयोजनं नोक्तं तावत्कुतोऽस्याः परिग्रहस्तत्कृतः स्यादिति तदुच्यते—इह मयाऽनुवादकलाप्रस्तावतरङ्गिणीशब्दापशब्दविवेकसमाख्याभ्यस्तिसृभ्यः स्वाभ्यः क्रियाभ्यः समाहृत्य समाहृत्य वाक्यमुक्ता अयं सङ्ग्रहः प्रणीतो वाचा तत्तदर्थनिबन्धनायाऽलंबुभूषून्प्रणतान्प्राज्ञानभियोगवतः शिष्यरूपान् हृदयङ्गमामपास्तसमस्तदोषकलङ्कपङ्कां शिष्टजुष्टां वाग्धोरणीं परिचाययिष्यामीति। का नाम निरवद्या वाचां पद्धेति न लक्षणमात्रेण शक्यं निरूपयितुम्। कथंचित्सम्भवन्त्यपि तन्निरूपणाऽकिञ्चित्करीति नार्थोनया। निदर्शनान्येव वाक्यरूपाणि तां व्यक्तरूपतामलं नयन्ति। अनुकार्यवाक्यविसर एवानुशील्यमानोऽभीष्टामादधाति व्युत्पत्तिं व्युत्पित्सूनाम्। लोके हि वाचि वाचि प्रतिनियतस्तत्तदभिधेयाभिधानप्रकारः, यं तद्विद आसेवन्ते, मा स्मैनं व्यभिचारील्लोक इति च कामयन्ते। संस्कृतेपि परम्परीणः पूर्वसूरिभिराद्दतोऽस्ति कश्चिद् वाग्व्यवहारविशेषः। स गवेषणीयः, स च शिक्षणीयः। इह च स शरीरबद्ध इव संनिधापित इत्यनुत्तमं तमनुशिष्टाः शिष्याः।

अत्र मूलसंस्कृतवाक्यानि हिन्दीभाषान्तरसहचरितानि निवेशितानि बालैरपि यथा सुज्ञानानि स्युः। तत्रापि स्थाने स्थानेऽर्थवैशद्यकराणि टिप्पणानि धृतानि, व्याख्यागम्यानि च पदानि व्याकृतानि, पदार्थविकासविवरणानि च सोपज्ञानि विन्यस्तानि।

मन्ये कृतिरियं मे यथेष्टमुपकरिष्यति विनेयानां नन्दयिष्यति च चेतः सचेतसां विज्ञातॄणाम्। सदसद्विवेचनचणा वाग्व्यवहारकोविदाः पण्डिततल्लजा निपुणं परीक्षन्तामिमां मे क्रियामिति सम्प्रार्थ्य विरमति विदां विधेयः।

चारुदेवशास्त्री
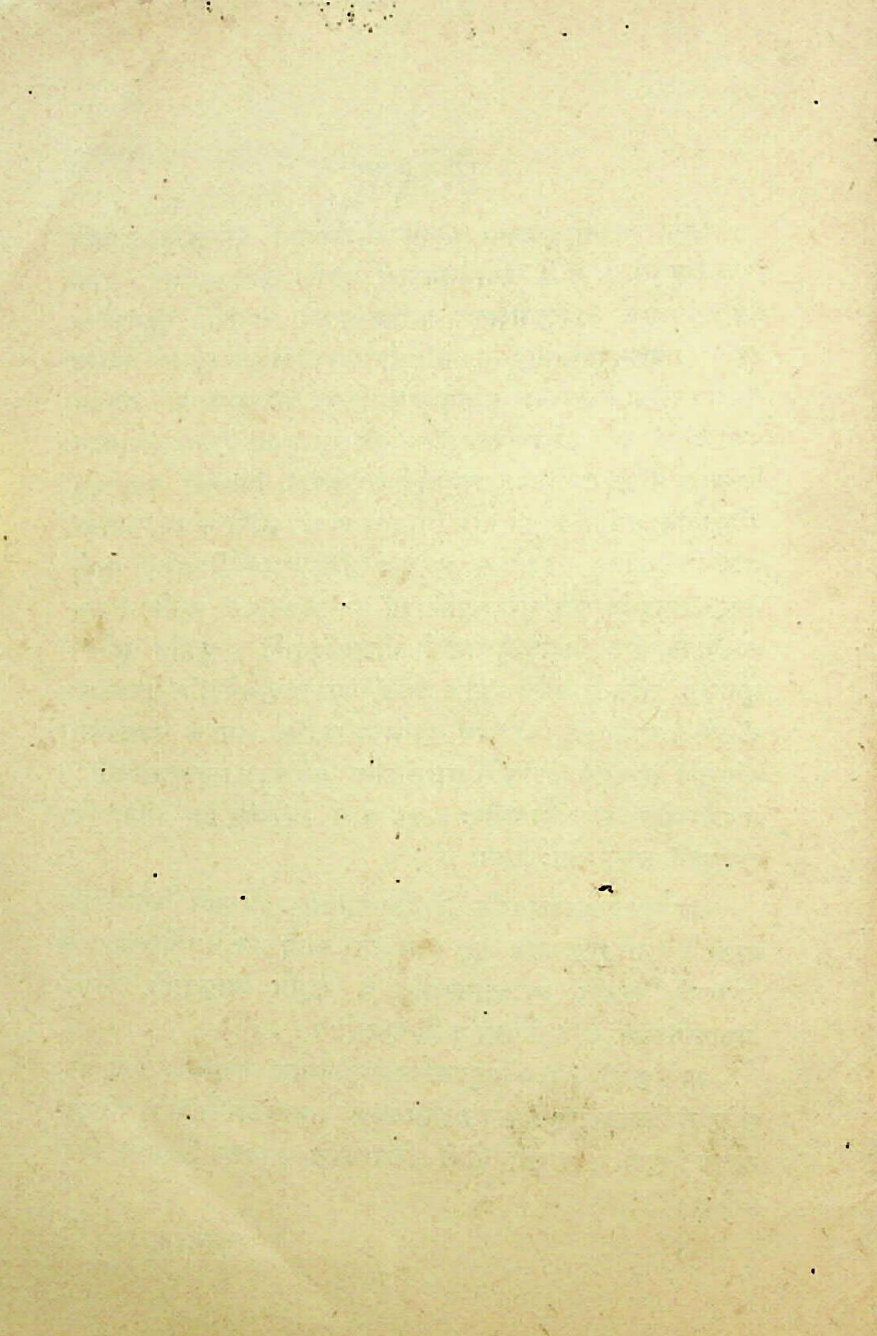
वाक्य-मुक्तावली

ओं नमः परमात्मने ।

नमो भगवते पाणिनये । नमः शिष्टेभ्यः ।

स्वोपज्ञं मौक्तिकच्छायो नृत्यत्प्रायपदात्मकः ।
वाक्योच्चयः क्रियादेष विदुषां मुदमुत्तमाम् ॥१॥

वाक्यमुक्तावली सैषा प्रकामं प्रथतां भुवि ।
कण्ठेन धारयन्त्वेतां विनेयाः सौष्ठवप्रियाः ॥२॥

१. वाचि शिक्षमाणस्य प्रथमवैयाकरणस्य साचिव्यं किमपि चिकीर्षामीति वाक्यमुक्तावलीं प्रक्रतोऽस्मि ।

२. एहि पुत्रक ! परिष्वजस्व मां पीडितम् । चिरमुत्सुकोऽस्मि ते दर्शनेन ।

३. स्वयं कृते पुण्यपापे अनुवर्तमानो जायस्व म्रियस्वेत्येवायं संसरति देही ।

---

१. शिक्षमाणस्य—शक् धातु से सन् प्रत्यय करने पर लट् में शिक्षते रूप बनता है । जब जिज्ञास्य विषय में शक्ति चाहता है ऐसा अर्थ हो तो 'शिक्षेर्जिज्ञासायाम्' इस वार्तिक से सन्नन्त 'शिक्ष' से आत्मनेपद होता है। प्रथम वैयाकरणः =जो अभी-अभी गुरु के पास व्याकरण पढ़ने गया है । इस अर्थ में 'प्रथमोऽचिरोपसम्पत्तौ' (६।२।५६) यह [illegible] प्रमाण है। व्याकरण पढ़ने वाले को वैयाकरण कहते हैं, और व्याकरण जानने वाले को भी । 'तदधीते तद्वेद' (४।२।५९) से यहाँ तदधीते अर्थ में [illegible] समझना चाहिये । साचिव्यम्—सचिवस्य सहायस्य कर्म । [illegible] । 'सचि' शब्द से 'वप्रकरणेऽन्येभ्योऽपि दृश्यत इति वक्तव्यम्', इस [illegible] से मत्वर्थीय 'व' प्रत्यय हुआ है । 'सचि' सखिपर्याय वैदिक शब्द है । यस्तित्याज सचिविदं सखायम् (ऋ. १०।७१।६)। 'सचिव' के दो अर्थ हैं—मन्त्री और सहाय। मन्त्री सहायः

ओं नमः परमात्मने ।

नमो भगवते पाणिनये । नमः शिष्टेभ्यः ।

निजविनिर्मित, शुभ्रमौक्तिक-तुल्य यह वाक्यावली
नर्तकी के नृत्यसी, विकसित करे गुणि-मन-कली ॥१॥

विख्यात हो भू पर सदा यह वाक्य की मुक्तावली ।
कण्ठ-प्रिय हो शिष्य जन को, वाग्मि-मन-मोद-स्थली ॥२॥

१. वाणी में समर्थ होना चाहते हुए व्याकरण पढ़ना प्रारम्भ करने वाले (छात्र) की कुछ सहायता करना चाहता हूँ, अतः मैं ने वाक्यमुक्तावली को आरम्भ किया है ।

२. प्रिय पुत्र आओ । मुझे गाढालिंगन करो । मैं चिर से तेरे दर्शन के लिये लालायित हूं ।

३. अपने किये पुण्य पाप के अनुसार यह देही जन्म-मरण के चक्कर में पड़ता है ।

सचिवौ—अमर । प्रकृतः =कर्तुमारब्धवान् । यहाँ 'क्त' आदि कर्म में है और आदि कर्म में 'क्त' आदिकर्मणि क्तः कर्तरि च (३।४।७१) से कर्ता में भी होता है, और भाव व कर्म में भी । यहाँ 'कर्ता' में हुआ ।

२. पीडितम् यहाँ क्रिया विशेषण है । अर्थ है—गाढम्, दृढम् =कस कर (पं. घुट कर) । दर्शनेन—यहाँ 'प्रसितोत्सुकाभ्यां तृतीया च' (२।३।४४) से तृतीया हुई ।

३. जायस्व म्रियस्व में 'समुच्चयेऽन्यतरस्याम्' (३।४।३) इस सूत्र से क्रियासमभिहार अर्थ में लोट् हुआ । 'समुच्चये सामान्यवचनस्य' (३।४।५) से सामान्यवचन 'संसरति' का अनुप्रयोग हुआ । जनन मरण इन दोनों का ही तो एक नाम संसरण है । संसरण=आवागमन ।

४. नाभिप्रेमस्त्वं धर्ममेव सततमनुरुन्ध्या इति, अर्थकामावपि यथाकालं जुषस्व।

५. इमे दोषा गुणांस्तिरस्कुर्वन्ति महतामपि।

६. किं विधवापुनरुद्वाहस्य शास्त्रदृष्टतां सिषाधयिषस्युताद्यत्वे तदुपयोगिताम्।

७. अप्यन्तरायाण्यार्य।

८. यन्मान्या विशेषविदो दुर्विधा इत्यवमन्यन्ते लोकेन स दुर्नयः।

९. अत्रार्थे किमप्युपस्तम्भकं प्रमाणं नोपलभामहे।

१०. अभ्रविलायं स वरं विलीनः कल्याणमतिषु सुजनेषु कष्टायते यः।

११. विसिन्वन्ति विषयिणमनुबध्नन्ति स्वेन रूपेणेति विषयाः।

१२. भुवनप्रथितप्रख्यानां क्षत्रियपुङ्गवानां भूरेषेति कस्य नेहाभिमानः।

---

५. तिरस्कुर्वन्ति=आच्छादयन्ति=ढाँपते हैं। तिरस् शब्द के दो अर्थ हैं—अन्तर्धान और पार्श्व। जो अपमान अर्थ है वह लक्षणा से प्राप्त होता है। जो अपमानित होता है वह अपने आप को छिपाता है, अतः तिरस्कृत शब्द का अपमानित अर्थ में प्रयोग होने लगा।

६. सिषाधयिषसि=साधयितुमिच्छसि।

७. 'अपि' यहाँ प्रश्नार्थक है। 'अन्तरायाणि' में 'अन्तः शब्दस्याङ्—' इत्यादि वार्तिक से 'अन्तर्' की उपसर्ग संज्ञा हो कर 'आनि लोट्' (८।४।१६) से णत्व हुआ।

८. दुर्नयः में 'दुरः षत्वणत्वयोरुपसर्गत्वप्रतिषेधो वाच्यः' इस से दुर् की उपसर्गसंज्ञा का निषेध हो गया। और 'उपसर्गादसमासे—'(८।४।१४) से जो णत्व प्राप्त था सो न हो सका।

४. हमारा यह अभिप्राय नहीं कि तू नित्य धर्म का ही अनुसरण करे, समयानुसार अर्थ व काम का भी सेवन कर।
५. ये दोष बड़े लोगों के भी गुणों को दृष्टि से ओझल कर देते हैं।
६. क्या तुम विधवाविवाह की शास्त्रानुकूलता सिद्ध करना चाहते हो अथवा उसकी आजकल उपयोगिता ?
७. श्रीमन्, क्या मैं अन्दर आ सकता हूँ ?
८. जो विशेषज्ञ मान के योग्य होते हुए लोगों से इसलिये अपमानित किये जाते हैं कि वे दरिद्र हैं, यह दुर्नीति है।
९. इस विषय में हमें कोई समर्थक प्रमाण नहीं मिलता।
१०. उसका मेघ की तरह नष्ट हो जाना अच्छा है जो कल्याणी बुद्धि वाले सत्पुरुषों के प्रति पाप करना चाहता है।
११. विषयी पुरुष को अपने स्वरूप के साथ जकड़ देते हैं इसलिये इन्हें विषय कहते हैं।
१२. लोक-प्रसिद्ध ख्याति वाले क्षत्रिय-धुरन्धरों की यह भूमि है, अतः इस पर किसका अभिमान नहीं।

---

९. 'उपस्तम्भकम्' में मूर्धन्य (ष्) किसी से भी प्राप्त नहीं। अतः उपष्टम्भक शब्द संस्कारहीन है।

१०. 'अभ्रविलायम्' में 'उपमाने कर्मणि च' (३।४।४५) से णमुल् हुआ। यथाऽभ्रं विलीयते तथा। यहाँ उपमान कर्ता है। 'कष्टायते' में 'कष्टाय क्रमणे' (३।१।१४) से पाप करने की इच्छा अर्थ में क्यङ् हुआ।

११. विसिन्वन्ति—यह षिञ् बन्धने स्वादि का रूप है। 'परिनिविभ्यः सेवसितसय—' (८।३।७०) से मूर्धन्य 'ष्' नहीं हो सकता, कारण कि सूत्र में 'सित' और 'सय' रूपों का ग्रहण किया है, षिञ् धातु का नहीं। 'सय' अच्प्रत्ययान्त है। वि+सयः=विषयः।

१२. भुवनप्रथितप्रख्यानाम्—यहाँ 'नाम्' के न् को ण् नहीं हुआ कारण कि चक्षिङ् के स्थान में जो ख्याञ् आदेश है वह वस्तुतः 'ख्शाञ्' है। 'श्'

१३. दुराचारस्य प्रणश्यति कीर्तिः, प्रणश्यति च वित्तम् ।
१४. यद्यपि नद्यां निस्नातोस्मि तथाप्यस्यां सरस्यां सिष्णासामि।

१५. प्रखरनखरैः प्रतिस्किरति व्याघ्रो मेषीम् ।
१६. त्रिहायनेयं पाठशाला कमप्यपूर्वं प्रकर्षं प्राप्तेति यत्सोऽस्या अध्यक्षस्य गुणः ।
१७. चतुर्हायणीयं कन्यकाऽष्टहायनीरपि कुमारीरतिशेते मेधया ।

१८. किं भोः सुसिक्तम् ? यथा तथा सुषिक्तं किं तवानेन ?

१९. यदत्र मेऽभिष्यात्तन्मे दातुमर्हसि, न ततोधिकं मार्गामि ।

के स्थान में जो 'य'—विधि है उसे असिद्ध काण्ड (८।२।१ से प्रारम्भ होने वाले) में पढ़ना चाहिये ऐसा भाष्यकार कहते हैं । अतः य् के असिद्ध होने से शकार द्वारा व्यवधान के कारण णत्व प्राप्त ही नहीं ।

१३. दुराचारस्य—यह बहुव्रीहि है । प्रणश्यति—यहाँ 'उपसर्गादसमासे—' (८।४।१४) से णत्व हुआ ।

१४. निस्नातः=नितरां स्नातः । यहाँ कौशल अर्थ न होने से 'निनदीभ्यां—' (८।३।८९) से षत्व नहीं हुआ । सिष्णासामि—यहाँ 'आदेश-प्रत्यययोः' (८।३।५९) से षत्व हुआ और तन्निमित्तक णत्व भी । ष्णा शौचे ऐसा पाठ होने से 'स्ना' षोपदेश है ।

१५. प्रतिस्किरति—यहाँ 'हिंसायां प्रतेश्च' (६।१।१४१) से हिंसा विषय में कॄ को सुट् का आगम होता है । और विक्षिपन् हिनस्ति (=दारयति) अर्थ होता है ।

१६. त्रिहायना—त्रीणि हायनान्यस्या इति । यहाँ न तो णत्व की प्राप्ति है और न ङीप् की ।

१३. दुराचारी की कीर्ति नष्ट होती है और धन भी ।
१४. यद्यपि मैं नदी में खूब नहा चुका हूँ तथापि इस झील में स्नान करना चाहता हूँ ।
१५. तीक्ष्ण नखों से व्याघ्र भेड़ को फैंक कर घायल करता है ।
१६. (केवल) तीन वर्ष पुरानी इस पाठशाला ने जो इतनी उन्नति की है यह इसके अध्यक्ष की बड़ाई है ।
१७. यह चार बरस की लड़की आठ बरस की लड़कियों से स्मृतिशक्ति में आगे निकल गई है ।
१८. क्यों जी अच्छी तरह सिंचाई कर दी? जैसे तैसे कर दी, तुझे इससे क्या ?
१९. जो इसमें मेरा हिस्सा हो, वह मुझे दीजिये । मैं उससे अधिक नहीं मांगता ।

---

१७. चतुर्हायणी—यहाँ 'दामहायनान्ताच्च' (४।१।२७) से ङीप् हुआ। यह ङीप् 'हायनो वयसि स्मृतः' इस वचन के अनुसार वयः (=अवस्था) अर्थ में ही इष्ट है, अन्यत्र नहीं । 'त्रिचतुर्भ्यां हायनस्य णत्वं वाच्यम्' इस वार्तिक से णत्व भी वयोवाचक 'हायन' को ही होता है ।

१८. सुसिक्तम्—यहाँ 'सुः पूजायाम्' (१।४।९४) से 'सु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हुई और उपसर्ग संज्ञा का निषेध हो गया, सो षत्व न हुआ। 'पूजा' से यहाँ अभिप्राय धातुवाच्य क्रिया को अच्छी तरह करना है। सुषिक्तम्—यहाँ पूजा अर्थ न होने से उपसर्ग संज्ञा बनी रही, अतः षत्व भी हो गया ।

१९. अभिष्यात्—यहाँ अभि भाग अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । अभिर्भागे (१।४।९१) से 'अभि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा लक्षण आदि अर्थों में तो होती है पर भाग अर्थ में नहीं । अतः भाग अर्थ में उपसर्ग संज्ञा बनी रही, और 'उपसर्गप्रादुर्भ्याम्—' (८।३।८७) से षत्व हो गया । कर्मप्रवचनीय न होने से द्वितीया भी नहीं हुई । सम्बन्धमात्र में षष्ठी (मे) हुई । मार्गामि—मार्ग् चुरादि है और आधृषीय है। 'आ धृषाद्वा' इस गणसूत्र से विकल्प से णिच् होता है । पक्ष में मार्गयामि भी होगा ।

२०. इदं सर्पिः इदं च सर्पिष्टरम्। कुत इदं वेत्थ?
२१. इदं पयः, इदं च पयस्पाशम् इति कुतो विवेकः?
२२. अवस्तब्धो वृषलः शीतेन।
२३. प्रातःकल्पा शर्वरीति प्रस्थेयं नः। कालसङ्गः परिहार्यः।

२४. परस्लक्षेषु मनुष्येषु कश्चिदेवात्मोपलब्धये यतते।
२५. महामहिमानस्तेऽन्तःस्थान् बहिःस्थांश्च रिपून् सममभिष्णुः।

२६. प्राङ्गने खेलन्ति बालाः सांराविणं च कुर्वन्ति।
२७. फाल्गुने मैत्रो विधिवद् दारान् करिष्यति।
२८. तत्र तटिनीतीरे सर्वं नीरवं निस्पन्दं चासीदिति भीराविशन्नः।

---

२०. सर्पिष्टरम्—सर्पिरन्तराच्छ्रेयः सर्पिः, दूसरे घी से बढ़िया घी। यहाँ तरप् प्रत्यय है। 'ह्रस्वात्तादौ तद्धिते' (८।३।१०१) से स् को मूर्धन्य ष् हुआ।

२१. पयस्पाशम्—यहाँ 'याप्ये पाशप्' (५।३।४७) से निन्दा अर्थ में पाश(प्) प्रत्यय हुआ। याप्यं निन्दितं पयः =पयस्पाशम्। 'सोऽपदादौ' (८।३।३८) से विसर्ग को स् होता है।

२२. अवस्तब्धः—यहाँ अव उपसर्ग होने पर भी 'स्' को मूर्धन्य नहीं हुआ, क्योंकि 'अवाच्चालम्बनाविदूर्ययोः' (८।३।६८) से आलम्बन और सामीप्य अर्थों में ही मूर्धन्यादेश का विधान है।

२३. प्रातःकल्पा =ईषदूनं प्रातः। कल्पप् स्वार्थिक प्रत्यय है और स्वार्थिक प्रत्यय 'स्वार्थिकाः प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यतिवर्तन्तेऽपि' इस वचन के अनुसार प्रकृति के लिङ्ग वचन को छोड़ भी देते हैं। अतः यहाँ शर्वरी के लिङ्ग के अनुसार स्त्रीत्व हुआ। सोऽपदादौ (८।३।३८) से जो विसर्जनीय को सकारादेश प्राप्त हुआ वह 'सोऽपदादावित्यनव्ययस्येति वक्तव्यम्' इस वचन से रुक गया, कारण कि 'प्रातर्' अव्यय है। नः—यहाँ 'कृत्यानां कर्तरि वा'

२०. यह (अच्छा) घी है और यह बढ़िया (घी) है। यह कैसे जानते हो?
२१. यह दूध है और यह निकम्मा दूध है, यह कैसे विवेक करते हो?
२२. शूद्र (बेचारा) सर्दी के मारे अकड़ गया है।
२३. लगभग सुबह होगई है, अतः हमें चलना चाहिये। देर नहीं करनी चाहिये।
२४. लाखों मनुष्यों में कोई एक आत्मज्ञान के लिये यत्न करता है।
२५. परम महिमा को प्राप्त हुए वे लोग एक समान अन्दर और बाहिर के शत्रुओं का अभिभव कर सकते हैं।
२६. बालक आंगन में खेलते हैं और ऊधम मचाते हैं।
२७. फाल्गुन में मैत्र विधिपूर्वक विवाह करेगा।
२८. वहाँ नदी के तट पर सब शान्त और निश्चल था, इसलिये हमें भय आगया।

(२।३।७१) से षष्ठी हुई।

२४. लक्षात्परे परस्लक्षाः। 'पारस्करप्रभृतिराकृतिगणः' इस काशिका के वचन के अनुसार टित् होने से लक्ष शब्द के आदि में सुट् हुआ। सो 'स्' यहाँ पदान्त नहीं, अतः रुत्व की प्राप्ति नहीं।

२५. अभिष्युः=अभिभवेयुः। अस् का विधिलिङ् में रूप है। अभि उपसर्ग है। अतः षत्व हुआ। उपसर्ग के कारण ही धातु सकर्मक हो गई, जिस से रिपु शब्द से द्वितीया आई।

२६. प्राङ्गने—यहाँ 'कृत्यचः' (८।४।२९) से जो णत्व प्राप्त था उस का 'इजादेः सनुमः' (८।४।३२) इस नियम से निषेध हो गया।

२७. विधिवत्=विध्यर्हम्=यथाविधि। यहाँ 'तदर्हम्' (५।१।११७) से वति प्रत्यय हुआ। दारान् करिष्यति=विवाह करेगा। दारकर्म, दारक्रिया विवाह के नाम हैं।

२८. निस्पन्दम्—यह निः स्पन्द था, 'खर्परे शरि वा विसर्गलोपो वाच्यः' इस वार्तिक से विकल्प से विसर्ग का लोप होता है। 'निष्पन्द' रूप नहीं बन सकता।

२९. वह्वाम्पीमानि तडागानीति नावगाह्यान्यनाविकेन ।

३०. पोषकृतं पूषणं पोषं रयीणां नित्यमनुनाथामः ।

३१. प्राक्तनं जन्मानभ्युपेयिवांसो यूयं तावद् ब्रूत ईश्वरे वैषम्य-नैर्घृण्ये कुतो न स्याताम् ।

३२. भगवान्भूतभावनः स्वेन सामर्थ्येनैव द्विपदोऽभावयच्चतुष्पदश्च ।

३३. नियते ! त्वमेव वद निर्घृणे ! किमित्याजन्म दारिद्र्यस्वख एव विनिर्मितोस्मि ।

३४. एतयोरेकतरं पुस्तकं मे देहि । निरूढकार्यस्त्वरितं प्रत्यर्पयिष्ये ।

३५. आर्येतराणां मिथः कलहाः किंकृता इति न न विदितं प्राकृतस्यापि ।

३६. आर्येतरेषां वेदेऽधिकारो नाभ्यनुज्ञातः । तत्र कारणेन गुरुणा भवितव्यम् ।

---

२९. वह्वाम्पि =वह्वय आपोऽत्रेति बहुव्रीहिः । यहाँ समासान्त शास्त्र के अनित्य होने से 'ऋक्पू—' (५।४।७४) से प्राप्त 'अ' समासान्त नहीं हुआ । इस रूप की साधुता के विषय में काशिका (६।४।११) देखो ।

३०. अनुनाथामः—यहाँ 'आशिषि नाथः' इस वार्तिक नियम से परस्मपद हुआ । नाथृ नाधृ दोनों ही आत्मनेपदी पढ़ी हैं ।

३१. उपेयिवांसः—यह क्वसु प्रत्ययान्त है । 'उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च' (३।२।१०९) से निपातन किया गया है ।

३२. भूतभावनः =भूतानि भावयति =उत्पादयति इति । एयन्त भावि धातु से कर्ता में ल्यु प्रत्यय हुआ है ।

२९. इन तालाबों में बहुत जल है अतः जो नाविक नहीं उसे इन में प्रवेश नहीं करना चाहिये।

३०. पुष्टि करने हारे पूषा देव से हम नित्य ही धन की पुष्टि (=पुष्कल धन) चाहते हैं।

३१. पूर्व जन्म को न मानने वाले आप जरा बताइये ईश्वर में विषमता (=पक्षपात) तथा निर्घृणता (क्रूरता) क्योंकर न होगी।

३२. भगवान् विधाता ने अपनी शक्ति से ही दोपायों और चौपायों को बनाया।

३३. हे निर्दय दैव तू ही बता, मैं जन्म से ही दरिद्रता का साथी क्यों बनाया गया हूँ।

३४. इन दो में कोई एक पुस्तक मुझे दे दो। (अपना) काम करके जल्दी ही लौटा दूंगा।

३५. आर्यों तथा आर्येतर लोगों के परस्पर झगड़े कौन कराता है यह रथ्यापुरुष भी जानता है।

३६. आर्येतर अर्थात् अनार्यों को वेद में अधिकार नहीं दिया गया है। इस में कोई बड़ा कारण होना चाहिये।

---

३३. दारिद्र्यसखः=दारिद्र्यस्य सखा। 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' (५।४।९१) से टच् समासान्त हुआ।

३४. एकतरम्—'एकतरात्प्रतिषेधः' इस वार्तिक से अम् के स्थान में अद्ड् आदेश न हुआ।

३५. आर्येतराणाम्—आर्याश्च इतरे च तेषाम्। यह द्वन्द्व समास है। और 'द्वन्द्वे च' (१।१।३१) से द्वन्द्व समास में सर्वादि की सर्वनाम संज्ञा नहीं होती। अतः सुट् न होकर नुट् हुआ।

३६. आर्येतरेषाम्—आर्येभ्य इतरे, तेषाम्। यहाँ तत्पुरुष समास में इतर शब्द की सर्वनाम संज्ञा बनी रही, सो सुट् होकर आर्येतरेषाम् रूप सिद्ध हुआ।

३७. य इमेऽन्तरायां पुरि वसन्ति ते निष्ट्याः।
३८. द्वये वा प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च। द्वेधा च प्रवृत्तिर्द्वयानाम्।

३९. गुरो! यदत्र मयकाऽजानता कृतं तन्मर्षितुमर्हसि।
४०. भयङ्करेयं मूर्त्तिर्दृष्टमात्रा लोमानि मे हर्षयति।
४१. पत्नी नाम गृहपत्नी। एतत्तन्त्रं हि गृहतन्त्रम्।

४२. पापेयं नापिती। इयं हि यत्र तत्र विग्राहयति लोकान्।
४३. ह्रीनिषेवाः कुलाङ्गनाः पादार्पितेक्षणा यान्ति परपुरुषदर्शनं परिहरन्त्यः।
४४. इयं जरती, इयं च युवतिः। तथापि पूर्वा वपुष्मती सर्वदोषमुक्ता च। अपरा कृशा तुन्दपरिमृजा च।
४५. आश्चर्यं यन्नेयमुक्तिरस्माकं श्रुतेर्गोचरः पुराऽभूत्। तेनैतां सहसा प्रत्येतुं न पारयामः।

---

३७. अन्तरायाम् =बाह्यायाम्। यहाँ 'अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः' (१।१।३६) से अन्तर शब्द की सर्वनाम संज्ञा प्राप्त थी, पर 'अपुरीति वक्तव्यम्' इस वार्तिक से रुक गई। निष्ट्याः—'अव्ययात्त्यप्' (४।२।१०४) और गणसूत्र 'निसो गते' से 'निस्' से त्यप् प्रत्यय हुआ। निर्गतो वर्णाश्रमेभ्य इति निष्ट्यश्चण्डालादिः।

३८. द्वये—जस् परे होने पर 'प्रथमचरमतय—'(१।१।३३) से विकल्प से द्वय (=द्वितय) की सर्वनाम संज्ञा हुई। यह अप्राप्त विभाषा है। तयप् प्रत्ययान्त का सर्वादि गण में पाठ नहीं। इस तयप् के स्थान में 'द्वित्रिभ्यां तयस्यायज्वा' (५।२।४३) से विकल्प से अयच् आदेश होता है। द्वयानाम्— यहाँ वैकल्पिकी सर्वनाम संज्ञा भी प्राप्त नहीं, वह तो जस् परे ही होती है।

३९. मयका=कुत्सितेन मया। मुझ नाचीज़ ने। यहाँ अकच् प्रत्यय हुआ है।

४०. भयङ्करा—भयङ्कर शब्द खच्-प्रत्ययान्त है, अतः स्त्रीत्व में टाप्

३७. ये जो बाहिर के नगर में रहते हैं वे चाण्डाल हैं।

३८. देवता और असुर दोनों प्रजापति की सन्तान हैं। दोनों की (जुदा-जुदा) दो प्रकार की प्रवृत्ति है।

३९. गुरु जी, यहां जो मैं ने बेसमझी से किया उसे क्षमा करें।

४०. यह भयङ्कर मूर्त्ति देखते ही मेरे रोंगटे खड़े हो जाते हैं।

४१. पत्नी निश्चय ही घर की स्वामिनी है। घर का धन्धा इसी के अधीन है।

४२. यह दुष्ट नाइन है। यह जहाँ तहाँ लोगों को लड़वा देती है।

४३. लज्जाशील कुलीन स्त्रियाँ परपुरुष के दर्शन से बचती हुई अपने चरणों में दृष्टि लगाये चलती हैं।

४४. यह बुढ़िया है और यह युवति। तो भी पहली सबल शरीर वाली और नित्य उद्योगिनी और दूसरी दुबली और सुस्त।

४५. आश्चर्य की बात है कि यह वाक्य हम ने पहले कभी नहीं सुना। इसलिये हम इसे एकदम समझने में असमर्थ हैं।

हुआ, ङीप् नहीं।

४१. गृहपत्नी—गृहस्य पतिः स्वामिनी। यहाँ 'विभाषा सपूर्वस्य' (४।१।३४) से विकल्प से 'पति' के 'इ' को 'न्' और ङीप् प्रत्यय होता है। पक्ष में 'गृहपतिः' भी कह सकते हैं।

४२. पापा—यहाँ पाप शब्द से 'अर्श आदिभ्योऽच्' (५।२।१२७) से अच् प्रत्यय होता है। पापमस्या अस्तीति पापा।

४३. पादाभिवीक्षणाः—यहाँ ईक्षण (=आँख) बह्वच् है, अतः 'स्वाङ्गाच्चोपसर्जनात्—' (४।१।५४) से जो पाक्षिक ङीष् की प्राप्ति थी वह 'न क्रोडादिबह्वचः' (४।१।५६) से रुक गई।

४४. तुन्दपरिमृजा=तुन्दं परिमार्ष्टि। 'तुन्दशोकयोः परिमृजापनुदोः' (३।२।५) से क प्रत्यय हुआ।

४५. गोचरः—यह घप्रत्ययान्त है और घप्रत्ययान्त नियम से पुंल्लिङ्ग होते हैं। ऐसे शब्द अजहल्लिङ्ग कहलाते हैं।

४६. उषः। चिरायुर्भूयाः, सुखं च जीव्याः।
४७. फलाभिलाषो हि प्रायेण प्रयोजयति प्रवृत्तिं लौकिकीं वैदिकीं च।
४८. इयं क्षीरपा क्षत्रिया, इयं सुरापी। अतो भिद्येते इमे शीलेन।

४९. महात्मानं दर्शका जना नानादिग्देशेभ्यः संनिपतन्ति।

५०. दुर्बलाः प्रबलेभ्यो नमस्कुर्वन्ति शिष्टाश्च दुष्टेभ्यः।
५१. को नाम सुधीश्चलाचलेभ्यः प्राणेभ्यः प्रति मानं यच्छेत् ?
५२. देवदत्तोऽधीती व्याकरणे, आम्नाती च च्छन्दसीति धन्यतमः पुंसाम्।
५३. ब्रह्मैव जगद्रूपेण परिणमत इत्याहुरविद्वांसः।

---

४६. चिरायुः=चिरमायुरस्याः। यहाँ किसी भी स्त्रीप्रत्यय की प्राप्ति नहीं।

४७. लौकिकीम्—लोके विदितो लौकिकः। 'लोकसर्व लोकाट्ठञ्'(५।१।४४) से ठञ् प्रत्यय हुआ। अथवा 'अध्यात्मादिभ्यश्च' इस वार्तिक से 'तत्र भवः' इस अर्थ में ठञ् प्रत्यय हुआ। वेदे भवः =वैदिकः। यहाँ भी इसी वार्तिक से ठञ् समझना चाहिये।

४८. क्षीरपा—क्षीरं पिबतीति। 'आतोऽनुपसर्गे कः' (३।२।३) से 'क' प्रत्यय होकर स्त्रीत्व विवक्षा में टाप् हुआ। सुरापी—'गापोष्टक्' (३।२।८), तथा 'सुराशीध्वोः पिबतेरिति वक्तव्यम्' इस वार्तिक से टक् प्रत्यय होता है। टक् टित् है, अतः स्त्रीप्रत्यय ङीप् हुआ।

४९. दर्शकाः—द्रक्ष्यन्तीति दर्शकाः। भविष्यत् काल में ण्वुल् हुआ है। अतः 'अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः' (२।३।७०) से कृद्योगलक्षणा षष्ठी का निषेध होकर अनुक्त कर्म 'महात्मन्' से द्वितीया हुई।

४६. हे (पुत्री) उषा तू आयुष्मती हो और सुखपूर्वक जीओ।

४७. प्रायः फल की इच्छा ही (मनुष्य) को लौकिक व वैदिक कर्मों में प्रवृत्त कराती है।

४८. यह क्षत्रिया दूध पीती है और यह सुरा। अतः दोनों के स्वभाव में भेद है।

४९. महात्मा को देखने के लिये लोग नाना दिशाओं और देशों से एकत्रित हो रहे हैं।

५०. दुर्बल बलवानों को नमस्कार करते हैं और शिष्ट दुष्टों को।

५१. कौन बुद्धिमान् (इन) अस्थिर प्राणों के बदले मान को खो दे?

५२. देवदत्त ने व्याकरण पढ़ा है और वेदाभ्यास किया है इससे वह मनुष्यों में सबसे अधिक भाग्यवान् है।

५३. ब्रह्म ही स्वयं जगद्रूप में परिणत हो गया है ऐसा मूर्खों का कथन है।

---

५०. प्रबलेभ्यः—प्रबलाननुकूलयितुम्=बलवानों को अपने अनुकूल करने के लिये। यहाँ 'क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः' (२।३।१४) से स्थानी (=अप्रयुक्त, गम्यमान) 'अनुकूलयितुम्' का कर्म होने से 'प्रबल' से चतुर्थी हुई।

५१. चलाचलेभ्यः—चलन्तीति चलाचलाः। 'नन्दिग्रहि—'(३।१।१३४) में 'चरिचलिपतिवदीनां वा द्वित्वमाक् चाभ्यासस्य' इस वार्तिक से अच् प्रत्यय होकर द्वित्व हुआ और अभ्यास को आक् का आगम हुआ। प्राणेभ्यः—यहाँ 'प्रति' के कर्मप्रवचनीय होने से 'प्रतिनिधिप्रतिदाने च यस्मात्' (२।३।११) से पञ्चमी हुई।

५२. अधीतमनेन इत्यधीती। आम्नातमनेन इत्याम्नाती। 'इष्टादिभ्यश्च' (५।२।८८) से इनि प्रत्यय हुआ और 'क्तस्येन्विषयस्य कर्मण्युपसंख्यानम्' इस वार्तिक से कर्म में सप्तमी हुई।

५३. परिणमेत—यहाँ कर्मकर्ता में 'न दुहस्नुनमां यक्चिणौ' (३।१।८९) से यक् का प्रतिषेध हो गया। आत्मनेपद तो होता है।

५४. तनुरियं ते तनुरसहिष्णुरातपम् । तेन मुहूर्तं प्रच्छायशीतलेऽस्मिंस्तरुतले विश्रमयाऽऽत्मानम् ।

५५. दूरक्षाः स्त्रिय इति न तासां जन्मन्युत्सवो भवतीति केचिदुत्प्रेक्षन्ते ।

५६. सहोदरा इव परस्परं प्रीतिमन्तः परस्परमनुव्रताश्च लोका अभ्युदयन्ते ।

५७. प्रायेण पापो दुर्गतो जनः स्वं कर्मानुपालभ्य परिमृष्यति दैवाय ।

५८. स्यन्दन्ते सरितः सागराय न च सर्वाः समुद्रगा भवन्ति ।

५९. महीं क्षियतीति महीक्षिद्राजोच्यते इति केचित् । तन्न । मह्याः क्षयति ईष्ट इति महीक्षित् इति तु वक्तव्यम् ।

६०. एते हि तीर्थध्वाङ्क्षा नैकत्र शक्नुवन्ति चिरं स्थातुम् ।

---

५४. असहिष्णुः—सह् से ताच्छील्य अर्थ में इष्णुच् प्रत्यय हुआ है । इस कृत्प्रत्यय के योग से षष्ठी प्राप्त थी, उस का 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' (२।३।६९) से निषेध हो गया ।

५५. दूरक्षाः—खलप्रत्ययान्त है । कृच्छ्रेण रक्ष्याः ।

५६. अभ्युदयन्ते—यह अभिउद्-पूर्व अय् का प्रयोग है । अय् भ्वादिगण की आत्मनेपदी धातु है ।

५७. परिमृष्यति—मृष् दिवा० उभयपदी है पर 'परेर्मृषः' (१।३।८२) से परिपूर्वक का प्रयोग परस्मैपद में ही होता है । परिमृष्यति=असूयति, अतः क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां—' (१।४।३७) से दैव से चतुर्थी हुई ।

५४. यह तेरा सूक्ष्म शरीर धूप नहीं सह सकता। अतः क्षणभर इस घनी छाया वाले शीतल वृक्ष के नीचे आराम कर लो।

५५. स्त्रियों की रक्षा करनी कठिन है, अतः उनके जन्म पर हर्ष नहीं होता, ऐसी कई लोग तर्कणा करते हैं।

५६. सगे भाइयों की तरह आपस में प्रीति रखने वाले और एकदूसरे में भक्ति रखने वाले लोग अभ्युदय को प्राप्त होते हैं।

५७. प्रायः पापी दुर्गति को प्राप्त कर अपने कर्म को दोष न देकर दैव पर क्रोध करता है।

५८. नदियाँ समुद्र की ओर बहती हैं, पर सभी समुद्र में पहुँचती नहीं।

५९. मही (पृथिवी) पर निवास करता है इस लिये राजा महीक्षित् कहलाता है ऐसा कई विद्वान् कहते हैं। सो ठीक नहीं। मही का ईश होने से वह महीक्षित् होता है ऐसा कहना चाहिये।

६०. ये तीर्थ के कौओं की तरह चञ्चल हैं, बहुत देर तक एक जगह नहीं ठहर सकते।

---

५८. सागराय=सागरं गन्तुम्। 'क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः' (२।३।१४) से चतुर्थी हुई।

५९. महीम्—क्षि निवासगत्योः, यह तुदादि धातु अकर्मक है, तो भी 'देशकालाध्वगन्तव्याः कर्मसंज्ञा ह्यकर्मणाम्' से मही की कर्म संज्ञा हुई। ऐसी व्युत्पत्ति अमरकोष के टीकाकार प्रसिद्ध विद्वान् क्षीर स्वामी ने की है। पर यह अर्थासंगति के कारण ठीक नहीं। वस्तुतः यहाँ वैदिक शासनार्थक क्षि धातु है जिस के प्रयोग में षष्ठी विभक्ति देखी जाती है। सेदु राजा क्षयति चर्षणीनाम् (ऋ० १।३२।१५)।

६० तीर्थध्वाङ्क्षाः=तीर्थे ध्वाङ्क्षा इव। यहां क्षेप (=निन्दा) अर्थ में ध्वाङ्क्षेण क्षेपे (२।१।४२) से सप्तमी समास हुआ।

६१. यो हि विरक्तो नाम भूत्वा स्वेष्वनुरज्यते स लोकमति-सन्धत्ते ।

६२. वध्वा नवे वाससी परिधाप्य तां विवाहमण्डपे संनिधापयन्ति ऋत्विजः ।

६३. न खलु व्याकरणस्याऽभिज्ञोऽसि यदेवमन्यथा व्युत्पादयसि पदानि मिथ्या च कारयसे ।

६४. क्षुद्रैराचरित एष पन्थाः । तस्मादिमं माऽऽस्थाः ।

६५. तरुफलशातनान्निषिद्धा दुर्वृत्ता अमी वटवो न चापलं विरमयन्ति ।

६६. अनूबन्धं विजानन्नहमेतदकरवम् अतो नानुशये ।

६७. यदि कल्पे कलितो कश्चिद् गृह्योक्तानि कर्माणि संशोधयेत्संक्षिपेच्च तदा लोकस्यानल्पमुपकुर्यात् ।

---

६१. नाम—यहाँ नाम अव्यय है और इसका अर्थ है अलीक, मिथ्या। अनुरज्यते=स्वयमेव अनुरक्तो भवति । 'कुषिरञ्जोः प्राचां श्यन्परस्मैपदं च' (३।१।९०) से कर्मकर्ता में पूर्वाचार्यों के मत में कुष् तथा रञ्ज् धातुओं से परस्मैपद और श्यन् प्रत्यय होता है। पक्ष में आत्मनेपद और यक् भी होता है।

६२. वध्वा—यहाँ परिपूर्वक ण्यन्त धाञ् धातु के प्रयोग में अण्यन्तावस्था के कर्ता 'वधू' की कर्मसंज्ञा किसी भी शास्त्र से प्राप्त नहीं, अतः अनुक्त कर्ता में तृतीया हुई । सूत्र ग्रन्थों में जो द्वितीया का प्रयोग देखा जाता है, सो अपाणिनीय है ।

६३. व्याकरणस्य—यहाँ व्याकरण से कृद्योग-लक्षणा षष्ठी हुई है। 'अभिज्ञः'—यहाँ 'आतश्चोपसर्गे' (३।१।१३६) से कप्रत्यय हुआ है । मिथ्या कारयसे—यहाँ 'मिथ्योपपदात्कृञोऽभ्यासे' (१।३।७१) से ण्यन्त 'कारि' धातु से आत्मनेपद का नियम किया गया है । 'णिचश्च' से जो कर्त्रभिप्राय

६१. जो विरक्त होने का बहाना बना कर अपनों में अनुरक्त रहता है वह दूसरों को धोखा देता है।

६२. वधू को नये वस्त्र पहना कर ऋत्विक् लोग उसे विवाह मण्डप में उपस्थित करते हैं।

६३. तुम्हें व्याकरण का ज्ञान नहीं, जो तुम इस प्रकार उलटी-पुलटी पदों की व्युत्पत्ति करते हो और बार-बार इन का अशुद्ध उच्चारण करते हो।

६४. इस मार्ग पर क्षुद्र लोग चलते हैं, तू इसका आश्रयण मत कर।

६५. वृक्षों के फलों को गिराने से रोके हुए भी ये दुर्वृत्त ब्रह्मचारी चञ्चलता नहीं छोड़ते।

६६. परिणाम को जानते हुए ही मैंने ऐसा किया, अतः मुझे इस का दुःख नहीं।

६७. यदि कोई कल्प सूत्रों को जानने वाला गृह्यसूत्रोक्त कर्मों में संशोधन कर उन्हें संक्षिप्त कर दे तो संसार का बहुत बड़ा उपकार करे।

क्रियाफल में आत्मनेपद की विधि थी, वह बार-बार अशुद्ध उच्चारण अर्थ में अकर्त्रभिप्राय फल में भी होगी।

६४. माऽऽस्थाः—आङ् पूर्वक स्था का लुङ् में रूप है, माङ् उपपद है। आ स्था का 'आश्रयण' अर्थ है।

६५. शातनात्—णिच् परे शद् के 'द्' को 'त्' होता है। जब गति अर्थ न हो। 'शदेरगतौ तः' (७।३।४२)। शादयति गाः =गौओं को हाँकता है।

६६. अनूबन्धम्—'उपसर्गस्य घञि—'(६।३।१२२) से उपसर्ग को दीर्घ हुआ है। ऐसा ही प्रासादः, परीहारः, प्राकारः, अपामार्गः इत्यादि में दीर्घ होता है। अनुशये—अनुपूर्वक शीङ् का अर्थ 'पछताना' है।

६७. कल्पे कलिती=कल्पं गृहीतवान् विज्ञातवान्। 'कलित्रखी कामधेनू' इस वचन से √कल् के नाना अर्थ हैं।

६८. एधानाहारको ग्रामीणा वनानि प्रस्थिताः ।

६९. कौसल्यायां रामो जातः, सुमित्रायां च लक्ष्मणः, तथाविधं च तयोः सौभ्रात्रमिति चित्रीयते लोकः ।

७०. रजकाय वस्त्राणि ददातीमानि निर्णिज्य रज्यन्तामिति ।

७१. माठरकौण्डिन्यौ ब्राह्मणानिमान् भोजनेन परिवेविषाताम् ।

७२. पश्य कियता यत्नेन सशर्करमिदं क्षेत्रं कृषति कृषीवलो हलेन ।

७३. पितरि शुश्रूषितव्यं मातरि शुश्रूषितव्यम् ।

७४. खड्गी वाणी शरासनी स राजा प्रातस्तरामेवाखेटं निर्जगाम ।

---

६८. एधानाहारकाः=एधानाहरिष्यन्ति । 'अकेनोर्भविष्यत्—' से कृद्योग-लक्षणा षष्ठी का निषेध होकर 'एध' से अनुक्त कर्म में द्वितीया हुई ।

६९. सौभ्रात्रम्—शोभनोऽस्येति सुभ्राता । 'वन्दिते भ्रातुः' (५।४।१५७) से समासान्त (कप्) का निषेध हुआ । सुभ्रातुर्भावः =सौभ्रात्रम् । 'हायनान्त-युवादिभ्योण्' (५।१।१३०) से भाव (अथवा कर्म) में अण् प्रत्यय हुआ ।

७०. रजकाय—यहाँ रजक शब्द से सम्प्रदान में चतुर्थी हुई । भाष्य के अनुसार 'स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकं परस्वत्वापादनं दानम्' (इस प्रकार देना कि अपना स्वामित्व हटा कर दूसरे को स्वामी बना देना) ही दान नहीं । जैसे भी दिया जाय, जिसे दिया जाय वह सम्प्रदान है । अतः भाष्यकार का 'खण्डिकोपाध्यायः शिष्याय चपेटां ददाति' यहाँ शिष्य शब्द से चतुर्थी का प्रयोग संगत होता है । मतान्तर में रजक से शैषिकी षष्ठी होगी ।

७१. ब्राह्मणान्भोजनेन—यहाँ परिपूर्वक 'विष्लृ व्याप्तौ' इस धातु के प्रयोग में 'भोजन' से तृतीया हुई और जिन्हें भोजन परोसा गया है उन के वाचक ब्राह्मण शब्द से द्वितीया । ऐसा ही प्रायः शिष्ट व्यवहार है । इस विषय में हमारी कृति 'शब्दापशब्दविवेकः' की भूमिका पृ० ३२ देखो । महाभारत आदि पर्व (३।९७) में भी 'ब्राह्मणान्परिवेष्टुमिच्छामि' ऐसा प्रयोग

६८. इंधन लाने के लिये ग्रामवासी जंगलों को चल पड़े।
६९. राम का कौसल्या से जन्म हुआ, लक्ष्मण का सुमित्रा से, इन दोनों का ऐसा सुन्दर भ्रातृभाव यह देख कर लोग विस्मित होते हैं।
७०. धोबी को वस्त्र देता है इसलिये कि इन्हें धो कर रंग दे।
७१. माठर और कौण्डिन्य इन ब्राह्मणों को भोजन परोसें।
७२. देखो कितने यत्न से किसान इस कंकरीले खेत में हल चला रहा है।
७३. पिता की सेवा करनी चाहिये, माता की सेवा करनी चाहिये।
७४. खड्ग, बाण और धनुष् लिये हुए वह राजा बहुत सवेरे शिकार के लिये निकल गया।

आया है। तथा सभापर्व (४९।३१) में 'पूर्णे शतसहस्रे तु विप्राणां परिविष्यताम्' (=परिविष्यमाणानाम्) ऐसा प्रयोग मिलता है।

७२. कृषति—कृष विलेखने, यह भ्वादि भी है और तुदादि भी। पर हल द्वारा कृषि कर्म में तुदादि कृष् का ही प्रयोग होता है।

७३. पितरि—यहाँ कर्मत्व की अविवक्षा करके भाष्यकार ने अधिकरणत्व की विवक्षा में सप्तमी का प्रयोग किया है। अधिकरणत्व की विवक्षा में क्या हेतु हो सकता है? सन्नन्त शुश्रूष का मूल अर्थ सुनने की इच्छा करना है, इस क्रिया की सिद्धि किसी के समीप बैठ कर ही हो सकती है, अतः पितृ, मातृ शब्दों से सामीपिक अधिकरण में सप्तमी हुई। प्राचीन रीति के अनुसार शास्त्रादि श्रवण का पात्र वही था जो सेवा करता था। अतः शुश्रूषा का अर्थ सेवा हो गया।

७४. आखेटम्—निर् पूर्वक गम् (निकलना) अकर्मक है। निर्जगाम =उद्दिश्य निर्जगाम। इस 'उद्दिश्' का कर्म होने से आखेट में द्वितीया हुई। ऐसे ही 'नगरं प्रतिष्ठते' में नगर से द्वितीया हुई। इस पर पुराने आचार्यों का यह वचन है—अकर्मका अप्यन्तर्णीतक्रियान्तरा धातवः सकर्मका भवन्ति।

७५. विदेशस्थो देवदत्तश्चिरमदृष्टाया अम्बायाः संजानाति ।

७६. किमिति वेदनिन्दया न लज्जसे, गुरुजनापवादेन वा नापत्रपसे ?

७७. मदनपरवशाऽपि नात्मनः प्रभवामि । जनको हि ममेष्टेऽस्य शरीरस्य ।

७८. रात्रौ रोचमान इन्दुः कस्य न प्रियः ।

७९. अत्र भवान्साधु सन्दभति वाक्यानीति जिज्ञासे केनात्र कर्मण्यभिविनीतोस्ति ।

८०. उदीयन्तेऽस्य पुण्यानि । यस्माद् यदयं प्रारभते तदेवास्य फलति ।

८१. यो हि स्वयं सूत्रं कृणत्ति वयति च स वर्धते पूयते च ।

८२. प्रतिरुद्धा आपः पूयन्ते ।

८३. शुक्तिं पश्यन्रजतमिति भ्रमति ।

---

७५. संजानाति=आध्यायति=उत्कण्ठा पूर्वक स्मरण करता है । 'अम्बा' से शैषिकी षष्ठी हुई ।

७६. वेदनिन्दया—यहाँ हेतु अर्थ में तृतीया समझनी चाहिये । तृतीया का व्यवहार ही शिष्ट-सम्मत है । जैसे भारत में प्रयोग है—अहो बत महत्कष्टं विपरीतमिदं जगत् । येनापत्रपते साधुरसाधुस्तेन तुष्यति ॥

७७. नात्मनः प्रभवामि—यहाँ अधिकार अर्थ में प्रपूर्वक भू का प्रयोग है । इस अर्थ में षष्ठी का व्यवहार ही शिष्ट सम्मत है । ममेष्टे (मम ईष्टे)—यहाँ 'अधीगर्थ—'(२।३।५२) से विकल्प से षष्ठी होती है । कर्मत्वविवक्षा में द्वितीया का प्रयोग साहित्य में न के बराबर है ।

७८. रोचमानः=दीप्यमानः । रुच दीप्तावभिप्रीतौ च । रुच् का दीप्ति अर्थ रुचि, रोचिस् (नपुं०) रोचिष्णु आदि में स्पष्ट है । न रुच्यर्थं किञ्चिद् धारयेत्=शोभा के लिये (ब्रह्मचारी) कुछ न पहने ।

७५. विदेश में रहता हुआ देवदत्त चिर से न देखी हुई माता को याद करता है।

७६. तुम वेदनिन्दा से क्योंकर नहीं लजाते, गुरुओं की निन्दा से भी तुम्हें लज्जा नहीं आती ?

७७. कामातुर होती हुई भी मुझ को अपने पर बस नहीं। मेरे पिता का इस मेरे शरीर पर अधिकार है।

७८. रात को चमकता हुआ चाँद किसे प्यारा नहीं लगता ?

७९. आप सुन्दर वाक्य-रचना करते हैं। मैं जानना चाहता हूँ कि आप को इस कर्म में किसने शिक्षा दी है।

८०. इसके पुण्यों का उदय हो रहा है, कारण कि जिस किसी कर्म को यह हाथ लगाता है वह इसका सिद्ध हो जाता है।

८१. जो स्वयं सूत कातता है और बुनता है वह बढ़ता है और पवित्र हो जाता है।

८२. रुका हुआ जल सड़ जाता है।

८३. सीपी को देख कर यह चान्दी है ऐसा भ्रम करता है।

---

७९. अत्र भवान्—यह समास नहीं। 'इतराभ्योपि दृश्यन्ते' (५।३।१४) से सप्तमी, पञ्चमी के अतिरिक्त प्रथमा आदि विभक्तियों से भी तसिल् आदि प्रत्यय हो जाते हैं। अत्र भवान्=अयं भवान्। ततो भवान्=स भवान्। तत्र भवते। ततो भवते।

८०. उदीयन्ते—यह ईङ् गतौ दिवादि का रूप है।

८१. कृणत्ति—यह कृती वेष्टने रुधादि का रूप है। कातने अर्थ में इसी का प्रयोग होता है, कृती छेदने तुदादि का नहीं।

८२. पूयन्ते—यह पूयी विशरणे का रूप है। विशरण झड़ना होता है, झड़ने से सड़ना उपलक्षित होता है।

८३. भ्रमति—भ्रान्त होने अर्थ में भ्वादि भ्रम् का ही प्रयोग इष्ट है, दिवादि का नहीं।

८४. मुहुर्मुहुर्विधवति माकन्दमञ्जरीः समीरः ।

८५. केयं भिक्षाव्यसनिनी कुलाटेति सोऽञ्जसाऽवेदीत् ।

८६. किमित्यज्ञवदनुकरोषि परेषाम् । सदसती विविच्य प्रवर्तस्व ।

८७. वसुमित्रोऽनवग्रहं ब्रूते न च विरमति, अप्रसक्तं च बहु भाषते ।

८८. एहि, आरामेऽत्रारमामः ।

८९. अयमाक्रीडः । अत्राक्रीडन्ते छात्रा विहरन्ति च लोका अहर्मुखे ।

९०. यो गुरून्नाभ्युत्तिष्ठति सोऽपध्वस्यते ।

९१. अस्माद् ग्रामाच्छतमुत्तिष्ठति । सोऽयमल्पीयानायः ।

९२. अयं लोकोऽर्थकामयोरासक्तो धर्मेपि नोत्तिष्ठते किमुतापवर्गे ।

---

८४. विधवति—धूञ् चुरा० आधृषीय है, अतः पक्ष में णिच् नहीं होता, केवल कर्तरि शप् होता है ।

८५. कुलाटा—स्वैरिणी अर्थ में शकन्ध्वादित्वात् पररूप एकादेश होकर 'कुलटा' रूप सिद्ध होता है । प्रकृत में वह अर्थ नहीं, अतः सवर्ण दीर्घ हो कर 'कुलाटा' रूप निर्दोष ठहरा ।

८६. परेषाम्—यहाँ शेषे षष्ठी हुई । कर्मत्व विवक्षा में द्वितीया भी हो सकती है । अनुकरोषि—यहाँ 'अनुपराभ्यां कृञः' (१।३।७९) से परस्मैपद ही होता है ।

८७. अवग्रहः =प्रतिबन्धः । अनवग्रहम् (क्रियावि०)=अनर्गलम् ।

८८. आरमामः—'व्याङ्परिभ्यो रमः' (१।३।८३) से परस्मैपद होता है ।

८९. आक्रीडन्ते— 'क्रीडोनुसंपरिभ्यश्च' (१।३।२१) में पूर्वसूत्र 'आङो दोऽनास्यविहरणे' (१।३।२०) से आङ् की अनुवृत्ति आती है । सो आङ्पूर्वक

८४. वायु आम्र-मञ्जरियों को बार-बार हिलोरे देता है।

८५. यह भीख माँगने वाली घर-घर घूमने वाली कौन है, यह उसने ठीक-ठीक जान लिया।

८६. मूर्खों की तरह दूसरों का अनुकरण क्यों करते हो? अच्छे बुरे का विवेक कर काम करो।

८७. वसुमित्र उच्छृङ्खलता से बोले जा रहा है और थमता नहीं। बहुत सी अप्रासङ्गिक बातें कह रहा है।

८८. आओ, इस बाग में रमण करें।

८९. यह उद्यान है। यहाँ दिन निकलते विद्यार्थी खेलते हैं और (दूसरे) लोग सैर करते हैं।

९०. जो गुरुओं को आते देखकर आसन से नहीं उठता, वह धिक्कारा जाता है।

९१. इस गाँव से १००) उठता है, सो यह बहुत थोड़ी आमदनी है।

९२. लोग अर्थ व काम में आसक्त हुए-हुए धर्माचरण में भी उद्यम नहीं करते, मोक्ष का तो क्या कहना।

क्रीड् से आत्मनेपद होता है।

९०. अभ्युत्तिष्ठति=अभिलक्ष्य उत्तिष्ठति। अभि उद् पूर्वक स्था सकर्मक है। इसी अर्थ में प्रति उद् पूर्वक स्था का भी प्रयोग होता है। प्रत्युत्थेया ब्राह्मणाः। अपध्वस्यते—अपपूर्वक ध्वंस् का अर्थ निन्दा करना, धिक्कारना है। उपसर्गवश यह सकर्मक है। वस्तुतः ध्वंस् का अर्थ गति भी है। अपपूर्वक इस का अर्थ 'दूर होना' होता है, पर अन्तर्भावितण्यर्थ होने से 'दूर करना' हो जाता है। जिसे धिक्कारा जाता है उसे दूर किया जाता है, इसलिये अपध्वंस् का अर्थ धिक्कारना हो गया।

९१. उत्तिष्ठति=उत्पद्यते=लभ्यते। यहाँ ईहा (=चेष्टा=यत्न) अर्थ न होने से उद् पूर्व स्था से आत्मनेपद नहीं हुआ।

९२. उत्तिष्ठते—यहाँ यत्न अर्थ होने से 'उदोनूर्ध्वकर्मणि' (१।३।२४) और उद ईहायामिति वक्तव्यम्—इस वार्तिक से आत्मनेपद हुआ।

९३. बहुरूपोऽसौ यस्य कस्यापि रूपमातिष्ठति स्वेच्छया, न च निपुणमीक्ष्यमाणोऽपि व्यक्तितः परिच्छिद्यते।

९४. अद्य संस्थास्यते यज्ञ इति प्रस्थास्यन्ते याज्ञिकाः।

९५. वर्षास्वयं सरोवरो जलधिमनुहरति, नाऽस्यावारपारे दृश्येते।

९६. सुहृदं देवदत्तमनुयोक्ष्ये ह्यो मद्गेहे किमिति नोपातिष्ठथा इति।

९७. विजये! जानीहि कः प्रतीहारमुपतिष्ठति।

९८. भोजनकाल उपतिष्ठसे कार्यकाले क यासि?

९९. श्यामः पितरि प्रतिकूलो मात्रा तु संजानीते।

१००. इह नगर्यां साधूपक्रामत्यातुरान् पीयूषपाणिर्ध्रुवसिद्धिर्नाम वैद्यः।

१०१, नवतन्त्रोऽयं भिषक् साधु चिकित्सत्यसाधु वेति विचिकित्सति जनः।

१०२. शतं मे धारयसि। यदि न सहसे दातुं मा दाः। अपजानीषे किम्?

---

९३. आतिष्ठति—यहाँ प्रतिज्ञा अर्थ न होने से 'आङः स्थः प्रतिज्ञाने' इस वार्तिक से आत्मनेपद न हो सका।

९४. संस्थास्यते—यहाँ समवप्रविभ्यः स्थः (१।३।२२) से आत्मनेपद हुआ। इसी से 'प्रस्थास्यन्ते' यहाँ भी आत्मनेपद हुआ।

९५. अनुहरति=अनुकरोति। यहाँ गतताच्छील्य (=चाल का अभ्यास) अर्थ न होने से 'हरतेर्गतताच्छील्ये' इस वार्तिक से आत्मनेपद की प्राप्ति नहीं। हाँ स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले (१।३।७२) से जो आत्मनेपद प्राप्त है उस का निषेध नहीं।

९६. अनुयोक्ष्ये—पूछूँगा। 'स्वराद्यन्तोपसर्गादिति वक्तव्यम्' इस वार्तिक से युज् से आत्मनेपद का नियम हो गया। युज् स्वरितेत् है। उपातिष्ठथाः—'अकर्मकाच्च' (१।३।२६) से आत्मनेपद होता है।

९३. वह बहुरूपिया है, जिस किसी का भी रूप चाहता है, धारण कर लेता है और अपने रूप से पहचाना नहीं जाता।

९४. आज यज्ञ समाप्त हो जायगा और याज्ञिक लोग चले जायेंगे।

९५. बरसात में यह तालाब समुद्र सा बन जाता है, इसका आर पार नहीं दीखता।

९६. मैं अपने मित्र देवदत्त से पूछूँगा कल आप मेरे घर क्यों नहीं आये?

९७. विजये! मालूम करो दर्वाजे पर कौन है।

९८. भोजन के समय उपस्थित हो जाते हो, काम के समय कहाँ चले जाते हो?

९९. श्याम पिता के प्रतिकूल है, पर माता के अनुकूल।

१००. इस नगर में अमृत-भरे हाथों वाला ध्रुवसिद्धि नाम का वैद्य है जो रोगियों की अच्छी तरह चिकित्सा करता है।

१०१. यह नौसिखिया वैद्य है, लोगों को सन्देह है कि यह ठीक चिकित्सा करता है अथवा नहीं।

१०२. तू ने मुझे सौ रुपया देना है, यदि नहीं दे सकता, मत दे। इन्कार क्यों करता है?

---

९७. उपतिष्ठति—यहाँ प्रतीहार (=द्वार) कर्म है, अतः आत्मनेपद की प्राप्ति नहीं।

९८. यहाँ भी (जैसे ९६वें में) उपपूर्वक स्था का अकर्मकतया प्रयोग है, अतः आत्मनेपद हुआ।

९९. संजानीते—यहाँ आध्यान (=उत्कण्ठा से याद करना) अर्थ नहीं, अतः 'सम्प्रतिभ्यामनाध्याने' (१।३।४६) से आत्मनेपद होता है।

१००. उपक्रामति—'उपपराभ्याम्' (१।३।३९) इस नियम से वृत्त्यादि अर्थों में ही उप, परा-पूर्वक क्रम् से आत्मनेपद होता है, किसी दूसरे अर्थ में नहीं।

१०१. विचिकित्सति—यहाँ सन्नन्त कित् से आत्मनेपद की प्राप्ति न होने से शेषात्कर्तरि परस्मैपदम् (१।३।७८) से परस्मैपद होता है।

१०२. अपजानीषे—अपह्नवे ज्ञः (१।३।४४) से आत्मनेपद होता है।

१०३. अयमध्ययनाय क्रमतेऽयं च खेलनाय। सहोदरावपीमौ विसदृशौ शीलेन।

१०४. राजान्नं तेज आदत्त इति पराकरोति राजप्रतिग्रहं द्विजः।

१०५. इमे नेतारो जनानां संशयेषु महात्मनि गान्धिनि तिष्ठन्ते स्म।

१०६. सत्योऽयमाभाणको मातृकं गावोऽनुहरन्ते पैतृकमश्वा इति।

१०७. अन्यत्र विसंवदन्तोपि न प्रेत्यभावे व्यूदिरे प्राज्ञः।

१०८. यदीच्छसि लोकस्य प्रियः स्यामिति तर्हि सन्ततमभ्यस्य संस्कृतेन संभाषाम्।

१०९. धन्योऽयं द्विजन्मा योऽगाधे शब्दशास्त्रे शिक्षते।

११०. विप्रतिष्ठन्ते विस्फुलिङ्गा इति हसन्तीं मोपश्लिषः।

---

१०३. क्रमते—यहाँ 'वृत्तिसर्गतायनेषु क्रमः' (१।३।३८) सर्ग (=उत्साह) अर्थ में आत्मनेपद होता है।

१०४. आदत्त—'आङो दोऽनास्यविहरणे' (१।३।२०) से दा से आत्मनेपद का नियम हुआ। पराकरोति—यहां 'अनुपराभ्यां कृञः' (१।३।७९) से परस्मैपद ही होता है।

१०५. तिष्ठन्ते—'प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च' (१।३।२३) से आत्मनेपद होता है। स्था धातु का अर्थ यहाँ भी स्थिति रखना, आश्रय लेना ही है। आत्मनेपद के प्रयोग से महात्मा गान्धी विवादपदनिर्णेता हैं ऐसा द्योतित होता है।

१०६. अनुहरन्ते—'हरतेर्गतताच्छील्ये' इस वार्तिक से आत्मनेपद हुआ। गतम् (=गतिम्) का अप्रयोग ही व्यवहारानुकूल है।

१०३. यह पढ़ने में उत्साह रखता है, और यह खेलने में। सगे भाई होते हुए भी ये दोनों स्वभाव से भिन्न-भिन्न हैं।

१०४. राजा का अन्न तेज को हर लेता है अतः ब्राह्मण राजा के दान को ठुकरा देते हैं।

१०५. ये जनता के अगुआ महात्मा गांधी को अपने संशयों का निर्णायक मानते थे।

१०६. यह सच्ची कहावत है गौएँ माता की चाल चलती हैं और घोड़े पिता की।

१०७. विषयान्तर में मतभेद रखते हुए भी प्राचीन (आर्यों) को पुनर्जन्म के विषय में विवाद नहीं था।

१०८. यदि तू चाहता है कि मैं लोक-प्रिय हो जाऊँ तो निरन्तर संस्कृत में बोलने का अभ्यास कर।

१०९. यह द्विज धन्य है जो अगाध व्याकरण शास्त्र में योग्य बनना चाहता है।

११०. चिन्गारियां निकल रही हैं अतः अंगीठी के पास मत जा।

---

१०७. व्यूदिरे—'भासनोपसंभाषा—' (१।३।४७) से वद् से विमति अर्थ में आत्मनेपद होता है। 'वि' वैमत्य का द्योतक है। केवल वद् में वैमत्य को कहने की सामर्थ्य नहीं, अतः विपूर्वक वद् से ही आत्मने० होता है। लिट् में सम्प्रसारण होकर व्यूदिरे (वि ऊदिरे) रूप सिद्ध होता है।

१०८. संस्कृतेन—करण में तृतीया है। वाक् अर्थप्रकाशन का करण (द्वार) है, अधिकरण नहीं।

१०९. शिक्षते—इस के लिये वाक्य १ का टिप्पण देखो।

११०. हसन्ती=अंगीठी। इस के दूसरे पर्याय ये हैं—अङ्गारधानिका, अङ्गारशकटी, हसनी। मोपश्लिषः—माङ् उपपद होने पर उपपूर्वक श्लिष् का लुङ् में रूप। पुषादित्वात् च्लि को अङ् हुआ।

१११. ये समुदाचारमुच्चरन्ते तेऽवगीयन्ते ।
११२. सङ्कटेनानेन संचरेण संचरमाणानि यानानि संघट्टन्ते ।
११३. ह्यः संक्रीडमानस्यास्योदग्रेणाश्मनाऽभिहतस्योरुपर्व व्यक्रामत् ।
११४. स साधिष्ठमुपकरोति लोकस्य यो रामायणं प्रकुरुते ।

११५. स्वर्णमुत्तपति स्वर्णकारो मूषायाम्
११६. केचिदाहुर्न वयं गृध्यामोऽर्थेषु किन्तर्ह्यर्था नो गर्धयन्तीति ।

११७. नेदमनीदृशं जगदिति जैमिनीयाः संगिरन्ते ।

११८. ये कापथमभिनिविशन्ते ते क्लिश्यन्ते ।
११९. संक्ष्णुष्व शस्त्रीम् । इयं कुण्ठिताश्रिर्न किमपि कृन्तति ।

---

१११. उच्चरन्ते—'उदश्चरः सकर्मकात्' (१।३।५३) से आत्मनेपद होता है । यदि धातु अकर्मक हो तो परस्मैपद ही रहेगा—बाष्पमुच्चरति= भाप उठती है । वेद में भी—तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् (पश्येम)=हम देवताओं से रखी गई पूर्व में निकलती हुई उस तेजस्वी आँख(=सूर्य) को देखें ।

११२. संचरेण=मार्गेण । 'संचर' घप्रत्ययान्त पुँल्लिङ्ग है । संचरमाणानि— 'समस्तृतीया—' (१।३।५४) से सम्पूर्वक चर् से आत्मने० होता है ।

११३. संक्रीडमानस्य—'क्रीडोऽनुसंपरिभ्यश्च' (१।३।२१) से आत्मने० होता हैं । ऊरुपर्व=जानु । व्यक्रामत्—विपूर्वक क्रम् से पादविहरण (=पाँव धरना, चलना) अर्थ में आत्मने० विधान किया है, किसी दूसरे अर्थ में तो नहीं । यहाँ जोड़ आदि का टूटना अर्थ है । अतः परस्मैपद ही रहा ।

११४. प्रकुरुते—'गन्धनावक्षेपण—' (१।३।३२) से प्रकथन अर्थ में आत्मनेपद का नियम हुआ । 'प्र' प्रकथन अर्थ का द्योतक है ।

१११. जो शिष्टाचार का उल्लंघन करते हैं उनकी निन्दा होती है।

११२. इस तंग रास्ते से चलती हुई गाड़ियाँ टकरा जाती हैं।

११३. कल खेलते हुए इस (लड़के) का गोडा ऊँचे पत्थर से टकरा कर टूट गया।

११४. जो रामायण की कथा करता है वह संसार का सबसे बड़ा उपकार करता है।

११५. सुनार मूषा(गुठाली) में सोने को तपाता है।

११६. कुछ लोगों का कहना है कि हमें धन आदि का लालच नहीं, किन्तु धन आदि हम में लालच उत्पन्न करते हैं।

११७. यह जगत् ऐसे ही रहता है यह जैमिनीय (मीमांसक) लोगों की प्रतिज्ञा है।

११८. जो कुमार्ग पर चलते हैं वे दुःख पाते हैं।

११९. छुरी को तेज़ कर। इसकी धार कुण्ठित हो गई है इस लिये यह कुछ भी नहीं काटती।

---

११५. उत्तपति—यहाँ 'उद्विभ्यां तपः' (१।३।२७) से आत्मने० नहीं हुआ, कारण कि यहाँ धातु सकर्मक है। स्वर्ण कर्म पड़ा है। आत्मनेपद तब होता है जब धातु अकर्मक हो अथवा स्वाङ्गकर्मक हो।

११६. गर्धयन्ति—'गृधिवञ्च्योः प्रलम्भने' (१।३।६९) से धोखा देने अर्थ में ही णिजन्त गृध् से आत्मनेपद का नियम है। यहाँ गर्ध (लालच) उत्पन्न करना अर्थ है, अतः परस्मैपद होने में कोई बाधा नहीं।

११७. संगिरन्ते—'समः प्रतिज्ञाने' (१।३।५२) से सम्पूर्वक गृ से आत्मने० होता है जब प्रतिज्ञा (=स्वीकार) अर्थ हो।

११८. अभिनिविशन्ते—यहाँ 'नेर्विशः' (१।३।१७) से आत्मने० हुआ, और 'अभिनिविशश्च' (१।४।४७) से अधिकरण की कर्म संज्ञा होकर 'कापथ' से द्वितीया हुई। क्लिश् दिवा० आ० अकर्मक है।

११९. संक्ष्णुष्व—'समः क्ष्णुवः' (१।३।६५) से आत्मने० होता है।

१२०. अम्बा दण्डेन भाययति चापलमाचरन्तं किशोरम्। न चासौ बिभेति वियातः।

१२१. शयालुरेष शिशुः। इमं शायय।

१२२. धन्यः स माणवको यो वेदे व्याकरणे च समं समुद्यच्छते।

१२३. प्रदीपप्रभा हि बाह्यं तमो नाशयति नान्तरम्।

१२४. स्वं कृत्यं सुष्ठु संविदन् प्राज्ञो मातापितृभ्यां संवित्ते।

१२५. यदा वृत्तिकर्शितो विप्रः कृषति भूमिं हलेन यदा च कृषाण औपाध्यायकं करोति तदा तौ व्यतिकुर्वाते।

१२६. समर्थोऽपि त्वं कस्मादृणं न विनयसे पैतृकम्?

---

१२०. भाययति—यहाँ हेतु (=प्रयोजक, यहाँ अम्बा) से भय नहीं, किन्तु दण्ड (=करण) से भय है। अतः यहाँ न तो आत्मनेपद हुआ और नहीं आत्व (भी के ई को आ) अथवा षुक् का आगम। हेतु से सीधा भय होने पर भापयते, भीषयते—ये दो रूप होंगे।

१२१. शयालुः—'स्पृहिगृहिपति—' (३।२।१५८) इस सूत्र में पढ़े हुए 'आलुचि शीङो ग्रहणं कर्तव्यम्' इस वार्तिक से शीङ् धातु से आलुच् प्रत्यय होता है। शायय—शी णिच् लोट्। यहाँ 'अणावकर्मकाच्चित्त—' (१,३,८८) से परस्मैपद का नियम है।

१२२. समुद्यच्छते—उद्यमं करोति। 'समुदाङ्भ्यो यमोऽग्रन्थे' (१।३।७५) से कर्त्रभिप्राय फल की विवक्षा में उद्पूर्वक यम् से आत्मने० होता है यदि 'ग्रन्थ' कर्म न हो। उद् पूर्वक यम् सकर्मक भी है और अकर्मक भी—चिकित्सामुद्यच्छति वैद्यः। काशिका। उद्यच्छमाना गमनाय पश्चात् (रघु० १६।२९)।

१२३. नाशयति—यहाँ 'बुधयुधनश—' (१।३।८६) से परस्मैपद का

१२०. माता शरारत करते हुए बच्चे को डण्डे से डराती है पर वह ढीठ नहीं डरता।

१२१. इस बच्चे को नींद आ रही है, इसे सुला दो।

१२२. वह लड़का धन्य है जो वेद तथा व्याकरण में बराबर उद्यम करता है।

१२३. दीये का प्रकाश बाहिर के अन्धकार को दूर करता है अन्दर के अन्धकार को नहीं।

१२४. अपने कर्तव्य को भली प्रकार जानता हुआ बुद्धिमान् पुरुष माता-पिता के साथ एक मति से रहता है।

१२५. जब जीविका के अभाव से दुःखी ब्राह्मण खेत पर हल चलाता है तब वह दूसरे (=वैश्य) के योग्य कर्म को करता है। और जब किसान पढ़ाता है वह भी।

१२६. तुम सामर्थ्य रखते हुए भी अपने पिता के ऋण को क्यों नहीं चुकाते?

नियम है। 'नाशयते' अपशब्द है।

१२४. संविदन्—सम्पूर्वक विद् (जानना) से 'विदिप्रच्छिस्वरतीनामुपसंख्यानम्' इस वचन से आत्मने० होता है जब यह धातु अकर्मक हो। यहाँ 'कृत्य' कर्म पड़ा है सो यहाँ आत्मने० नहीं हुआ। पर मातापितृभ्यां संवित्ते—यहाँ हो गया।

१२५. व्यतिकुर्वाते—यहाँ 'कर्तरि कर्मव्यतिहारे'(१।३।१४) से आत्मने० का नियम है। यत्रान्यसम्बन्धिनीं क्रियामन्यः करोति इतरसम्बन्धिनीं चेतरः स कर्मव्यतिहारः = जब दूसरे के साथ सम्बन्ध रखने वाली क्रिया को कोई और करता है उसे कर्मव्यतिहार कहते हैं। अर्थात् जब आपस में क्रियाओं का अदल-बदल होता है।

१२६. विनयसे—यहाँ 'संमाननोत्सञ्जन०—' (१।३।३६) से विगणन (परिशोधन) अर्थ में √नी से आत्मने० ही होता है। 'वि' विगणन का द्योतक है। इसके बिना केवल 'नी' से इस अर्थ की प्रतीति न होगी।

१२७. वह्नस्य श्रेष्ठिन आवेशनेषु कार्यमिति वहूनयमुपनयते कर्मकरान्।

१२८. सुजनेषु तिष्ठत्सु दुर्जनास्तरन्तीति खिद्यते नश्चेतः।

१२९. सुहृदो भोजनेन निमन्त्रयते तदर्थं च महतः संभारान् कुरुते।

१३०. यतेस्ते भौतिकेष्वर्थेष्वीदृश्यास्थेति महानन्तरायः सिद्धौ।

१३१. अभ्युदियादयं देशः स्वे महिम्नि च जागर्यादिति नित्यमाशास्महे।

१३२. केचिद्रक्ता अनुसरन्ति श्रियम्। श्रिया च केचिद्विरक्ता अनुस्त्रियन्ते।

१३३. राजान्नं तेजो जरयतीति नेदं प्रत्यगृह्णन् द्विजाः।

१३४. अतिश्रमः खलु जारयति तेज इन्द्रियाणाम्।

---

१२७. आवेशनेषु—शिल्पिशालासु, कारखानों में। आवेशनं शिल्पशाला—वैजयन्ती। उपनयते—नियुङ्क्ते। यहाँ 'सम्माननोत्सञ्जनाचार्यकरणज्ञानभृति—' (१।३।३६) से आत्मनेपद होता है। नीञ् का अर्थ प्रापण है, पर 'भृति' इसका विशेषण है, अतः इसे यों कह सकते हैं—उपनयते भृतिदानेन समीपं करोति। 'उप' यहाँ ऐसे सामीप्य का द्योतक है।

१२८. 'सप्तम्यधिकरणे च' (२।३।३६) यहाँ कारकार्हाणां चेत्यादि तीन वार्तिक पढ़े हैं। यहाँ 'तद्विपर्यासे च सप्तमी वक्तव्या' वार्तिक से सुजन शब्द से सप्तमी हुई। लक्ष्यलक्षणभाव की अविवक्षा में यह वचन है, अन्यत्र तो 'यस्य च भावेन भावलक्षणम्' (२।३।३७) इस सूत्र से सप्तमी सिद्ध ही है।

१२९. भोजनेन—यह हेतु में तृतीया है। हेतु-तृतीया का ही प्रयोग शिष्ट-सम्मत है। तादर्थ्य के न होने से चतुर्थी का विषय नहीं।

१२७. इस सेठ के कारखानों में बहुत काम है अतः यह बहुत से नौकर नियुक्त करता है।
१२८. सज्जन बैठे रह जाते हैं जब कि दुर्जन तर जाते हैं यह देख कर हमारा मन दुःखी होता है।
१२९. मित्रों को भोजन का निमन्त्रण देता है और उस हेतु बड़ी तैयारियाँ करता है।
१३०. यति होते हुए आप की भौतिक अर्थों में इतनी चाह है, यह सिद्धि में बड़ा भारी विघ्न है।
१३१. यह देश अभ्युदय को प्राप्त हो और अपनी महिमा को पहिचाने यह हमारी नित्य की प्रार्थना है।
१३२. कई रागी (आसक्त) लक्ष्मी का पीछा करते हैं और किन्हीं विरागियों का लक्ष्मी पीछा करती है।
१३३. राजा का अन्न तेज को क्षीण कर देता है इसलिये ब्राह्मण इसे नहीं स्वीकार करते थे।
१३४. अधिक परिश्रम निश्चय ही इन्द्रियों के तेज को क्षीण कर देता है।

---

१३०. आस्था--आदरः, अभिलाषः।

१३१. अभ्युदियात्--इण् गतौ, धातु है, अभि और उद् दो उपसर्ग हैं। आशीर्लिङ् प्र० पु० एक० का रूप है। अभ्युद्--ईयात्, इस अवस्था में 'एतेर्लिङि' (७।४।२४) से ह्रस्व हुआ। जागर्यात्--यह जागृ का आशीर्लिङ् है। यहाँ 'जाग्रोऽविचिण्--(७।३।८५) से कित् यासुट् परे होने पर धातु को गुण होता है।

१३३. जरयति--'जनीजॄष्--' गणसूत्र से जॄष् की मित् संज्ञा होकर 'मितां ह्रस्वः' (६।४।९२) से उपधा ह्रस्व हो जाता है।

१३४. जारयति--यहाँ धातु जॄ क्र्यादि है, और उसकी मित् संज्ञा नहीं, सो ह्रस्व न हुआ।

१३५. प्रतीहि वा न वा । अहमस्य क्षोत्स्यामि जानू, भङ्क्ष्यामि चोरू ।

१३६. विप्राः शापेन शत्रूनपरेधू राजन्याश्च चापेन ।

१३७. यो हि मन्दः परुषाक्षरैः सन्तक्षति सुहृदः स विस्मरति न वाक्क्षतं संरोहतीति ।

१३८. यो हि शादयति गा इति वक्तव्ये शातयति गा इति ब्रूयात्, वाढं दुष्येत् स मूढधीः ।

१३९. एतावतीभिरद्भिर्न शोत्स्यन्ति नो वस्त्राणि ।

१४०. यदि त्वं तस्मिन्प्रेष्यसे सोपि त्वयि प्रीतिं करिष्यति ।

१४१. हनुमताऽधिष्ठिता वानरा अनेकानि काननानि पर्याटन् न च सीतमासीदन् ।

१४२. कुणिं वा खञ्जं वा खलतिं वा मोपहसीः ।

---

१३५. क्षोत्स्यामि—क्षुदिर् सम्पेषणे रुधादि का लृट् में रूप है ।

१३६. अपरेधुः—यह अप-पूर्वक राध् स्वादि का लिट् में रूप है । 'राधो हिंसायाम्' (६।४।१२३) से 'एत्व' और अभ्यासलोप होता है । इस अर्थ में 'अप' उपसर्ग का प्रयोग नियम से होता है ।

१३७. सन्तक्षति—तक्ष त्वक्ष तनूकरणे (छीलने अर्थ में) भ्वादि में पढ़ी हैं । इस अर्थ में 'तनूकरणे तक्षः' (३।१।७६) से श्नु भी विकल्प से होता है । अन्यत्र तो यथाप्राप्त शप् ही होगा । यहाँ सन्तक्षति =भर्त्सयति ।

१३८. शादयति=क्षालयति, उदजति । यह शद्लृ शातने का णिच् प्रत्यय परे रहते लट् में रूप है । शातयति—यह भी उसी धातु का णिच् प्रत्यय परे रहते लट् का रूप है, पर अर्थ-भेद के कारण यहाँ धातु के द् को 'शदेरगतौ तः' (७।३।४२) से त् होता है ।

१३५. तुम विश्वास करो या न करो, मैं इसके गोडों को चूर-चूर कर दूँगा और इसकी रानों को तोड़ दूँगा।

१३६. ब्राह्मण शाप से शत्रुओं को मारते थे, और क्षत्रिय धनुष् से।

१३७. जो मूर्ख कठोर शब्दों से अपने मित्रों को पीडा देता है वह भूल जाता है कि वाणी का घाव भरता नहीं।

१३८. जो कोई 'शादयति गाः' (गौओं को हाँकता है) ऐसा न कह कर 'शातयति गाः' (गौओं को मार गिराता है) ऐसा कहता है वह मूर्ख निश्चित ही पाप का भागी होगा।

१३९. इतने जल से हमारे वस्त्र साफ़ नहीं होंगे।

१४०. यदि तू उस के साथ प्रीति करेगा, वह भी तेरे साथ प्रेम करेगा।

१४१. हनुमान् के नेतृत्व में वानरों ने नाना वनों में भ्रमण किया, पर सीता को न पाया।

१४२. लूले, लंगड़े अथवा गंजे को देख उपहास मत कर।

---

१३९. शोत्स्यन्ति—यह शुध शौचे दिवा० का लृट् में रूप है। शुध् अनिट् है और अकर्मक है।

१४०. प्रेष्यसे—प्रीङ् प्रीतौ दिवादि का लृट् में रूप है। धातु अनिट्, आत्मने० और अकर्मक है।

१४१. अनेकानि—अनेक नञ्तत्पुरुष है। उत्तरपदार्थ प्रधान होने से इस का एकवचन में प्रयोग न्याय्य है। यथा आचार्य का अपना प्रयोग—अनेकमन्यपदार्थे (२।२।२४)। पर बहुवचन में अनेकत्र प्रयोग आता है, सो इस का समाधान अनेकं चानेकं चानेकं चेत्यनेकानि—इस प्रकार एकशेष से करते हैं।

१४२. मा उपहसीः, हस् का लुङ् में रूप है। 'ह्मयन्तक्षणश्वस—' (७।२।५) से 'अतो हलादेर्लघोः' (७।२।७) से जो विकल्प से उपधावृद्धि प्राप्त हुई वह रुक गई। माङ् उपपद होने से अट् का आगम नहीं हुआ।

१४३. यदि साधुषु साधु वर्त्स्यसि तदा वर्त्स्यसि ।

१४४. किमेवं धृष्णोषि ? धर्षयसि गुरूनिति किं शोभते ते ?

१४५. न हि ज्योतिरन्तरेणातिशय्यते विवस्वान् ।

१४६. एतावता कतकचूर्णेनात्यर्थं मलीमसान्यपि परिधेयानि नेनिजानि ।

१४७. एवं कदर्थिताः प्रजा अपरङ्क्तारः प्रकोपं च जनयितार इति कः सन्दिग्धे ।

१४८. आरिरात्सामि परार्थं शक्तश्चेत्स्यां न तु प्रतिरित्सामि ।

१४९. पुस्तकं क न्यधाः, लब्धिदं मृग्यताम् ।

१५०. कार्यारम्भे रभसो न युक्त इत्येवाभिप्रेमः, न तु तत्र ते प्रवृत्तिं वारयामः ।

---

१४३. वर्त्स्यसि—यह वृतु वर्तने का लृट् में रूप है। 'वृद्भ्यः स्यसनोः' (१।३।९२) से 'स्य' प्रत्यय परे होने पर विकल्प से परस्मैपद होता है। 'न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः' (७।२।५९) से तङ् और आन के अभाव में इट् भी नहीं होता। दूसरा वर्त्स्यसि—वृधु का लृट् में रूप है। यहाँ भी इन्हीं दो सूत्रों की प्रवृत्ति हुई है।

१४४. धृष्णोषि—यह ञिधृषा प्रागल्भ्ये स्वादि का रूप है। धर्षयसि—यह धृष प्रसहने चुरादि का रूप है।

१४५. ज्योतिरन्तरेण—अन्यद् ज्योतिर् ज्योतिरन्तरम्, मयूरव्यंसकादिः। अतिशय्यते—अति शीङ् से कर्म में यक्, लट्। यहाँ 'अयङ् यि क्ङिति' से शी के ई को 'अय्' हो जाता है।

१४६. नेनिजानि—'नाभ्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके' (७।३।८७) से गुण का निषेध हुआ।

१४३. यदि सज्जनों के प्रति अच्छा व्यवहार करोगे तो बढ़ोगे।

१४४. तू ऐसी ढिठाई क्यों करता है? बड़ों को भी ललकारता है, क्या तुम्हें यह शोभा देता है?

१४५. सूर्य से बढ़ कर कोई ज्योति नहीं।

१४६. इतने मात्र कतक चूर्ण से मैं अत्यन्त मलिन वस्त्रों को भी धो सकता हूँ।

१४७. इस प्रकार तंग हुई प्रजाएँ विमुख हो जायेंगी और शान्ति भङ्ग कर देंगी इस में किसे सन्देह है?

१४८. मुझ से हो सके तो मैं दूसरों के काम को साध देता हूँ, बिगाड़ना नहीं चाहता।

१४९. पुस्तक कहाँ रखी है, तुरन्त ढूँढो।

१५०. कार्यारम्भ में अतिशीघ्रता नहीं करनी चाहिये, इतना ही हमारा अभिप्राय है। हम तुम्हारी प्रवृत्ति को नहीं रोकते।

---

१४७. अपरङ्क्तारः—यह लुट् में अपपूर्वक रञ्ज् का कर्मकर्तरि प्रयोग है। स्वयमेवापरक्ता भविष्यन्ति।

१४८. आरिरात्सामि—आङ् पूर्व राध (साध) संसिद्धौ स्वादि का सन् पर रहते रूप है। आराद्धुमिच्छामि। प्रतिरित्सामि—'राधो हिंसायां सनीस् वाच्यः' इस वार्तिक से हिंसा अर्थ में राध् के 'आ' को 'इस्' हो जाता है। 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' (७।४।५८) से अभ्यास का लोप होता है। 'प्रति' हिंसा का द्योतक है। संसिद्धि अर्थ में पढ़ी हुई यह राध् धातु हिंसार्थक भी होती है कारण कि धातुओं के नाना अर्थ होते हैं।

१४९. न्यधाः—निपूर्वक धा का लुङ्। 'गातिस्थाघु—' (२।४।७७) से सिच् का लुक् होता है।

१५०. रभसः=त्वरा। रभसो वेगहर्षयोः। अभिप्रेमः—इण् गतौ का अभिप्र-पूर्वक रूप है।

१५१. रे रे दुर्जनाग्रणीः, बाढमनियन्त्रितं ते तुण्डम् । विरमातः परं वाक्प्रसङ्गात् ।

१५२. परिमितसंख्या अपि तेऽपरिमितैरसंग्रामयन्त परं च पराक्रमन्त ।

१५३. प्रिय सत्यव्रत ! ज्योग्जीव्या नित्यं चाभ्युदियाः ।

१५४. अयि किमन्वेषसे ? किं ते नष्टम् ?

१५५. यदि प्रेत्यभाव उपपत्तिभिर्न सिध्यति, मा सिधत् । श्रुतिस्त्वस्यानुग्राहिकाऽस्ति ।

१५६. अभिजानासि देवदत्त ! शैशवे पांसुषु सह क्रीडिष्यावः ।

१५७. गच्छ पुरा वर्षति देवः । अवस्थास्यसे चेद् अभ्युक्षिष्येते ते वाससी ।

१५८. देवदत्त, प्रजानासि कृत्याकृत्ये । धनं तावदर्जय, पश्चान्निवेक्ष्यसे ।

१५९. अयं नु कदाऽध्येता य एवमनभियुक्तः ।

---

१५१. दुर्जनाग्रणीः—यह सम्बोधन में प्रथमा एकवचन है । यहाँ किसी भी शास्त्र से न तो सुलोप प्राप्त है, न गुण, और नहीं ह्रस्व ।

१५२. असंग्रामयन्त—संग्राम युद्धे चुरादि, नित्य आत्मनेपदी । यही एक धातु है जहाँ उपसर्ग का योग पहले और अट् का आगम पीछे होता है । पराक्रमन्त—यहाँ 'उपपराभ्याम्' (१।३।३९) से सर्ग (=उत्साह) अर्थ में आत्मनेपद होता है ।

१५३. ज्योक्—अव्यय है और यहाँ चिर का वाचक है । अभ्युदियाः—इस पर वाक्य नं० १३१ के टिप्पण में देखो ।

१५४. अन्वेषसे—यहाँ एषृ गतौ यह भ्वादि धातु है । अनुपूर्व इस का अर्थ ढूँढ़ना होता है ।

१५५. मा सिधत्—यह षिधु संराद्धौ (सिद्ध होना) दिवादि का माङ् उपपद होने पर लुङ् का रूप है । पुषादि होने से 'पुषादिद्युताद्यॢदितः'—

१५१. अरे दुर्जन शिरोमणे, तू बहुत मुँहफट है। इस से ज्यादा बकवास न कर।

१५२. अल्पसंख्या में होते हुए भी वे बहुत बड़ी संख्या वालों के साथ लड़े और पराक्रम दिखाया।

१५३. प्रिय (पुत्र) सत्यव्रत चिर तक जीओ और नित्य अभ्युदय को प्राप्त हो।

१५४. अजी क्या ढूँढ रहे हो? तुम्हारा क्या गुम हो गया है?

१५५. यदि पुनर्जन्म युक्तियों से नहीं सिद्ध होता, मत हो, श्रुति तो इस का समर्थन करती है।

१५६. देवदत्त, तुम्हें याद है हम बचपन में इकट्ठे धूलि में खेला करते थे।

१५७. जाओ, मेंह बरसने को है। यदि ठहरोगे तो तुम्हारे कपड़े भीग जायेंगे।

१५८. देवदत्त, तू कृत्य और अकृत्य को खूब समझता है। यह धन कमाने का अवसर है, पीछे विवाह करेगा।

१५९. हा यह कब पढ़ेगा जो (पढ़ने में) लगता ही नहीं।

(३।१।५५) से च्लि को अङ् आदेश होता है।

१५६. क्रीडिष्यावः—यहाँ 'अभिज्ञावचने लृट्' (३।२।११२) से भूतकाल में लृट् होता है। अभिज्ञा=स्मरण।

१५७. वर्षति—'यावत् पुरानिपातयोर्लट्' (३।३।४) से निकट भविष्यत् के अर्थ में 'पुरा' उपपद होने पर लट् का प्रयोग होता है। स्यात्प्रबन्धे चिरातीते निकटागामिके पुरा—अमर।

१५८. अर्जय—धनार्जने ते प्राप्तकालता=तू धन कमा, तेरा धन कमाने का अवसर है। यहाँ 'प्रैषातिसर्गप्राप्तकालेषु कृत्याश्च' (३।३।१६३) से लोट् हुआ।

१५९. अध्येता—यहाँ 'परिदेवने श्वस्तनी (=लुट्) भविष्यदर्थे वक्तव्या' इस वार्तिक से विलाप अर्थ की प्रतीति होने पर धातुमात्र से भविष्यत् में केवल लुट् होता है।

१६०. अद्य श्वो वा गमिष्यामि। अवशिष्यते प्रस्थानसंभारः कर्तुम्।

१६१. अद्य ह्यो वा प्रातः शाकमभुक्ष्महीति न सुष्ठु स्मर्यते।

१६२. सखेऽन्यत्रमना अभूवम्। अन्यथा सभाजनीयं त्वां कथं न सभाजयिष्यामि।

१६३. कर्णिनी वै भूमिः, विविक्ते कथय, मा कश्चिद्रहस्यं श्रौषीत्।

१६४. कदा भूयः समागमिष्यसि। कामो मे न त्वं चिरयेः।

१६५. अतिमात्रं स्निह्यत्यम्बा शिशुके। नित्यं च शङ्कते माऽस्यानिष्टोपनिपातो भूत्।

१६६. स पापो यः परकीयेऽर्थे गृध्यति। गर्धो हि पापस्य मूलम्।

१६७. प्रीताः प्रजाः सम्प्रेक्ष्य प्रीयते परमेश्वरः।

१६८. किं ते रोचन्तेऽमी मोदका आहो स्विन्न। मह्यं तु बहुतरां स्वदन्ते।

---

१६०. गमिष्यामि—यहाँ वर्तमान और भविष्यत् व्यामिश्र हैं। अतः 'अनद्यतने लुट्' (३।३।१५) से लुट् नहीं हो सकता है, क्योंकि 'अनद्यतन' बहुव्रीहि है, जिस का अर्थ है जिस में कुछ भी अद्यतन न हो, यहाँ तो 'अद्य' कहने से स्पष्ट ही अद्यतन भविष्यत् है।

१६१. अभुक्ष्महि—भुज् का लुङ्। यहां भी व्यामिश्र (अद्यतन तथा अनद्यतन) होने से 'अनद्यतने लङ्' (३।२।१११) से लङ् नहीं हो सकता।

१६२. सभाजयिष्यामि—सभाज प्रीतिदर्शनयोः चुरादि का रूप है। यहाँ शास्त्र से लृट् की प्राप्ति नहीं, पर व्यवहार ऐसा ही है। इस विषय में अधिक देखने की इच्छा हो तो हमारी कृति 'शब्दापशब्दविवेकः' की भूमिका में लकारार्थ पढ़िये।

१६३. मा श्रौषीत्—श्रु—लुङ्।

१६०. आज या कल जाऊँगा। अभी प्रस्थान की तैयारी कुछ बाकी है।

१६१. आज या कल सुबह हम ने शाक खाया था इस का हमें अच्छी तरह स्मरण नहीं।

१६२. मित्र मेरा ध्यान और तरफ था, नहीं तो मैं तुम्हारा अभिनन्दन कैसे न करता?

१६३. भूमि निश्चित ही कानों वाली है, एकान्त में कहो, ऐसा न हो कोई रहस्य को सुन ले।

१६४. फिर कब मिलोगे? मेरी इच्छा यही है कि तुम देर न करना।

१६५. माता का बच्चे में बहुत स्नेह है। इसे नित्य ही डर लगा रहता है कहीं इस पर कोई अनिष्ट न आ पड़े।

१६६. वह पापी है जो दूसरे के धन का लालच करता है। लालच पाप का मूल है।

१६७. प्रजाओं को प्रसन्न देख कर भगवान् प्रसन्न होते हैं।

१६८. क्या ये लड्डू तुम्हें पसन्द आये अथवा नहीं? मुझे तो बहुत अच्छे लगे हैं।

---

१६४. चिरयेः—यहाँ 'कामप्रवेदने—' (३।३।१५३) से लिङ् होता है, दूसरा कोई लकार नहीं हो सकता।

१६५. स्निह्यति—अकर्मक है। दिवादिगण की धातुएँ प्रायः अकर्मक हैं।

१६६. गृध्यति—गृधु अभिकाङ्क्षायाम्, दिवा०। यह भी अकर्मक है। इसके उदाहरणों के लिए 'शब्दापशब्दविवेकः' की भूमिका में धातु प्रकरण देखो।

१६७. प्रीयते—प्रीङ् प्रीतौ, प्रसन्न होना। यह धातु अकर्मक है। दिवादि धातुएँ प्रायः अकर्मक हैं। प्रीञ् प्रीतौ क्र्यादि सकर्मक है—प्रीणातीति प्रियः, जो प्रसन्न करता है उसे 'प्रिय' कहते हैं।

१६८. स्वदन्ते—ष्वद आस्वादने भ्वा० आ०। यह धातु रुच्यर्थ में अकर्मक है जैसे यहाँ, और अनुभव अर्थ में सकर्मक। तब यह 'स्वाद

१६९. अवलम्बस्व मां प्रभो ! त्वामेवाहमवलम्बे ।

१७०. स्वकं गेहकं विहाय नदीकूलमुपशेषे । किं कलत्रेण कलहायितोऽसि ?

१७१. ये महात्मनोऽपि विरुन्धन्ति, विरुन्धन्ति ते आयतिकं स्वमभ्युदयम् ।

१७२. प्रवणेन येन प्रदेशेन नदीमवतरति सोऽवतार इति वा तीर्थमिति वोच्यते ।

१७३. वत्स ! आगमयस्व तावत्, रध्यत्योदनः ।

१७४. गुरुमुपेहि वटो, व्याकरणं चागमय ।

१७५. यः परान्मीनाति स स्वयं किं न मीयते ?

१७६. कालिकमिदं सदनं सम्प्रति विशीर्णमिति पुनर्निर्माणमर्हति ।

१७७. अल्पपरिवारोऽभीतवन्निर्याति मृगयां राजा । नापेक्षते स्वस्य हितं न च प्रजानाम् ।

आस्वादने' के साथ समानार्थक होती है । स्वद् का रुच्यर्थ होने से 'रुच्यर्थानां प्रीयमाणः' (१।४।३३) से 'अस्मद्' की सम्प्रदान संज्ञा होकर चतुर्थी हुई ।

१६९. अवलम्बस्व—यहाँ अवष्टम्भ, सहारा देना, पकड़ना अर्थ है । अवलम्बे—यहाँ पकड़ना, सहारा लेना अर्थ है ।

१७०. उपशेषे—उपसर्ग के कारण धातु सकर्मक हो गई ।

१७१. विरुन्धन्ति—विपूर्वक रुध् नित्य सकर्मक है । अतः यहाँ 'महात्मभिरपि समं विरुन्धन्ति' नहीं कह सकते । आयतिकम्—आयतौ भवम् । अध्यात्मादित्वात् ठञ् ।

१७२. अवतारः—'अवे तृस्त्रोर्घञ्' (३।३।१२०) से यहाँ करण में घञ् प्रत्यय होता है—अवतरत्यनेन इत्यवतारः ।

१६९. प्रभो मुझे सहारा दो, मैं आप का ही सहारा लेता हूँ ।

१७०. अपना घर छोड़ नदी के किनारे सो रहे हो । क्या घर वाली से झगड़ा हो गया है ?

१७१. जो महात्माओं का भी विरोध करते हैं, वे अपने भावी अभ्युदय का विरोध करते हैं ।

१७२. जिस नीची जगह से नदी में (कोई) उतरता है उसे 'अवतार' अथवा तीर्थ (=घाट) कहते हैं ।

१७३. पुत्र, जरा ठहरो, भात पक रहा है ।

१७४. हे ब्रह्मचारिन्, गुरु की सेवा में जाओ और व्याकरण सीखो ।

१७५. जो दूसरों को नष्ट करता है, क्या वह स्वयं नष्ट नहीं होता ?

१७६. यह बहुत पुराना मकान जीर्ण हो गया है, इसे नये सिरे से बनाना चाहिये ।

१७७. थोड़े से नौकर-चाकर साथ ले कर निर्भय हो राजा शिकार के लिये जा रहा है, न तो इसे अपने हित की परवाह है और न प्रजाओं के ।

---

१७३. आगमयस्व—'आगमेः क्षमायाम्' इस वार्तिक से धैर्य अर्थ में आङ्पूर्वक णयन्त गम् से केवल आत्मने० होता है ।

१७४. आगमय—यहाँ 'णिचश्च' (१।३।७४) से कर्त्रभिप्राय फल में आ०, अन्यथा परस्मै० सिद्ध है ।

१७५. मीनाति—क्र्यादि मीञ् सकर्मक है । मीयते—मीङ् दिवा० अकर्मक है, यथा मिनाति श्रियं जरिमा तनूनाम् (ऋ० १ १७९।१)। न तस्य लोमापि मीयते (उपनिषद्)।

१७६. कालिकम्—प्रकृष्टो दीर्घः कालोऽस्य । प्रकृष्टे ठञ् (५।१।१०८) से ठञ् प्रत्यय हुआ ।

१७७. मृगयां निर्याति—यहाँ द्वितीया की उपपत्ति के लिये वाक्य (७४) का टिप्पण देखो ।

१७८. अमेध्ये पतितं काञ्चनं न नोच्चिनुते जनः ।

१७९. उदहारि ! या त्वं शिरसा कुम्भं वहसि सा त्वं किमिति विषमेण पथा धावसि ।

१८०. विषये लीनाः प्रलीना इवात्मानमपि विस्मरन्ति किमुतात्मीयान् ।

१८१. न हि गोगौरवं गुरुणापि निरवशेषमुद्गीर्यते ।

१८२. यदि कथासंकथयोस्ते विवेकोऽस्ति नूनमुपसर्गव्यवहारं प्रजानासि ।

१८३. धीरा अपि दुर्जनान्संचक्षते, खलसम्पर्कभीरवो हि ते ।

१८४. सुजनास्तु दोषज्ञा अपि परदोषेषु दृष्टिमपि न क्षिपन्ति ।

१८५. व्यृद्धपूर्वः सम्प्रति समृद्धोऽविनीतो नाभाषते सखायमपि ।

१८६. देवदत्तचरमिदं वेश्म सम्प्रति यज्ञदत्तस्य स्वम् । इदं हि तेन क्रयेण लब्धं न प्रतिग्रहेण ।

---

१७८. उच्चनुते उद् उपसर्ग सहित चिञ् का अर्थ उठाना, इकट्ठा करना होता है।

१७९. उदहारि—उदकं हरतीति, तत्सम्बुद्धौ। हृ से अण् हो कर स्त्रीत्व विवक्षा में ङीप् हुआ। सम्बोधन एक० में 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः' (७।३।१०७) से ह्रस्व हुआ। यहाँ 'मन्थौदनसक्तु—' (६।३।६०) से उदक शब्द को 'उद' आदेश विकल्प से होता है, पक्ष में 'उदकहारि' रूप भी होगा।

१८०. प्रलीनाः—मूर्छित। प्र-पूर्वक लीङ् का अर्थ मूर्छित होना है और विध्वस्त होना भी। किमुत=बलवत् = सुष्ठु=बहुत अधिक।

१८१. उद्गीर्यते—गॄ निगरणे—तुदादि परस्मै० का उद् उपसर्ग पूर्वक कर्म वाच्य होने पर लट् में रूप है।

१८२. संकथा—सम्पूर्वक कथ् का संलाप (दूसरे के साथ बात करना)

१७८. गन्दी जगह में पड़े हुए सोने को मनुष्य उठा ही लेता है ।

१७९. अरी पनिहारी, तू सिर पर जलकुम्भ उठाए हुए है, ऐसी अवस्था में तू ऊँचे-नीचे मार्ग से क्यों चलती है ?

१८०. विषयों में अत्यन्तासक्त हुए मूर्छित से हुए (लोग) अपने आप को भूल जाते हैं, अपनों को भूल जाते हैं, इस का तो क्या कहना ।

१८१. वाणी के महत्त्व को बृहस्पति भी पूरी तरह से नहीं कह सकता ।

१८२. यदि तुझे कथा और संकथा का अर्थभेद विदित है तो निश्चय ही तू उपसर्ग के प्रयोग को खूब समझता है ।

१८३. धीर लोग भी दुर्जनों का परित्याग (परिहार) करते हैं क्योंकि वे भी दुष्ट की संगति से डरते हैं ।

१८४. सज्जन लोग विद्वान् होते हुए भी दूसरों के दोषों पर दृष्टि भी नहीं डालते ।

१८५. जो पहले दरिद्र था और जो अभी-अभी सम्पन्न हुआ है वह विनय-शून्य पुरुष अपने मित्र को भी मुँह से नहीं बुलाता ।

१८६. यह घर पहले देवदत्त का था, अब यज्ञदत्त का इस पर अधिकार है । यज्ञदत्त ने इसे खरीदा है दान में प्राप्त नहीं किया ।

अर्थ होता है । सह अथवा सम् के साथ कथ् का अकर्मकतया प्रयोग शिष्ट-संमत है—यदा समेता बहवस्त्वया राजर्षयः सह । कथयिष्यन्ति । (रा० २।१२।४०) ।

१८३. संचक्षते—वर्जयन्ति । 'संचक्ष्या दुर्जनाः' (काशिका २।४।५४)।

१८४. दोषज्ञाः—दोषज्ञ शब्द विद्वान् के पर्यायों में पढ़ा है । विद्वान् विपश्चिद् दोषज्ञः—अमर ।

१८५. व्यृद्धपूर्वः—पूर्वं व्यृद्धः । सुप्सुपा समास । आभाषते—आलपति= अभिसम्बोधयति । आङ् पूर्वक भाष् का यही अर्थ है । इस के प्रयोग में द्वितीया व्यवहारानुगत है, तृतीया नहीं ।

१८६. देवदत्तचरम्—देवदत्तस्य भूतपूर्वम् । यहाँ 'षष्ठ्या रूप्य च' (५।३।५४) चरट् प्रत्यय होता है ।

१८७. विनेया व्याकरणे न्याये च तथाऽभिविनेया यथा गुरुसाहाय्यनिरपेक्षं ग्रन्थाँल्लापयेयुः ।

१८८. ब्राह्मणा अपि श्रुतिपरिशीलनं परावपन् का कथेतरेषाम् ।

१८९. इदम्प्रथमतया श्रुतोऽस्य शास्त्रपारगस्योपदेशः सुष्ठु प्राभवच्चेतसो नः ।

१९०. लक्ष्म्यां रङ्क्त्वा न सहसा विरज्यते । ततो वा विरज्य सरस्वत्यां रज्यते ।

१९१. मा स्म चिन्तयः । सर्वात्मना समीहिष्ये । जानेऽयमर्थो मयि लम्बते ।

१९२. येयं सम्प्रति प्रचरति भारते शिक्षा तां वित्त्वाऽपि बहवो नालङ्कर्मीणा भवन्ति ।

१९३. अविप्लुतब्रह्मचर्यो युवा चारुसर्वाङ्गीं युवतिमुद्वाह्य गृही भवेत् ।

१९४. अयं ह्यकूपारमपि तरीतुमर्हति किमुत सरसीम् ।

---

१८७. अभिविनेयाः—शिक्षणीयाः । व्याकरणे—अभि वि नी अथवा वि नी के प्रयोग में शिक्षा के विषय में सप्तमी होती है । ऐसी ही लौकिकी विवक्षा है ।

१८८. परावपन्—परा पूर्वक वप् का अर्थ परे फैंकना, त्यागना है ।

१८९. प्राभवच्चेतसः—अधिकार रखने अर्थ में 'चेतस्' शब्द से शैषिकी षष्ठी हुई । इसे इस प्रकार भी हिन्दी में कह सकते हैं—हमारे हृदय पर अधिकार कर लिया । संस्कृत में इस भाव को 'हृदि पदमकरोत्' ऐसे भी कह सकते हैं ।

१९०. रङ्क्त्वा—यहाँ कर्मकर्ता में वर्तमान 'रञ्ज्' से क्त्वा है ।

१९१. मा स्म चिन्तयः—यहाँ 'स्मोत्तरे लङ् च' (३।३।१७६) से पक्ष

१८७. शिष्यों को व्याकरण और न्याय में इस प्रकार शिक्षा देनी चाहिये कि गुरु की सहायता के बिना ही ग्रन्थों को लगा सकें।

१८८. ब्राह्मणों ने भी वेदाभ्यास छोड़ दिया औरों का तो क्या कहना।

१८९. पहली बार सुने हुए उस शास्त्र-पारंगत पुरुष के उपदेश का हमारे चित्त पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा।

१९०. लक्ष्मी में जब एक बार अनुरक्त हो जाता है तो जल्दी विरक्त नहीं होता। और लक्ष्मी से विरक्त होने पर (ही) सरस्वती में अनुरक्त होता है।

१९१. चिन्ता मत करो। मैं भरसक यत्न करूँगा। मैं जानता हूँ यह कार्य मुझ पर निर्भर है।

१९२. आजकल जिस शिक्षा का भारतवर्ष में प्रचार है उसे प्राप्त करके भी बहुत लोग कार्य करने के योग्य नहीं होते।

१९३. सुरक्षित ब्रह्मचर्य-युक्त युवक सर्वाङ्ग सुन्दरी युवति से विवाह कर के गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे।

१९४. यह समुद्र को भी तैर कर पार कर सकता है, झील का तो क्या कहना।

में लुङ् के अर्थ में लङ् हुआ। मा स्म चिचिन्तः (लुङ्) ऐसा भी कह सकते हैं। मयि लम्बते—मुझ पर लटकता है। अर्थात् मेरे आश्रित है।

१९२. वित्त्वा—विद्लृ लाभे इस का क्त्वा प्रत्यय परे रहते रूप है। पाणिनि के मत में यह धातु अनिट् है, व्याघ्रभूत्यादि आचार्यों के मत में सेट्। अनलंकर्माणः—न अलंकर्माणः। अलं कर्मणे। 'पर्यादयो ग्लानाद्यर्थे चतुर्थ्या' इस वार्तिक से समास होता है। 'अषडक्षाशितंग्वलंकर्म—'(५।४।७) से स्वार्थ में ख प्रत्यय होता है।

१९३. चारुसर्वाङ्गीम्—चारूणि सर्वाणि अङ्गानि अस्याः, ताम्। 'अङ्ग-गात्रकण्ठेभ्यो वा ङीष् वक्तव्यः' इस वचन से विकल्प से ङीष्।

१९४. उदुह्य—उद्-वह्-ल्यप्।

१९५. पाठे नित्यमनवहितं तं शिष्यचेलं शालातो निष्क्रामेति ब्रूहि ।

१९६. न हि किमपि कारणमन्तरा समुत्पत्तुं विनंष्टुं वा शक्नोति ।

१९७. अयं चिरं गदीति सम्प्रति गदान्निर्गतोऽपि पदमेकमपि प्रक्रमितुं नालम् ।

१९८. वृष्टमात्रे देवेऽभितो विरवितुमारभन्त भेकाः ।

१९९. अनुजानीहि मां गमनाय । गम्यतां पुनर्दर्शनाय ।

२००. न मया शक्यते रहस्यमिदं चिरं गोपायितुम् ।

२०१. धनधान्यस्य च स्फातिः सदा मे वर्ततां गृहे ।

२०२. जागरितोऽहमात्मनि ब्रह्मणि । नहीदानीं विडम्बयितुमर्हति मां माया वराकी ।

२०३. प्रथमोऽपराध इति मर्षितो गुरुणा । तन्न द्वितीयं मा स्म चारीः ।

---

१९५. शिष्यचेलम्—शिष्यं चेलमिव । 'अथवा कुत्सितानि कुत्सनैः' (२।१।५३) से समास हुआ । कुत्सितः शिष्यः शिष्यचेलम् ।

१९६. विनंष्टुम्—यहाँ मस्जिनशोर्झलि से 'नुम्' का आगम होता है । इट् होने पर 'विनशितुम्' ऐसा नुम्-रहित रूप भी होगा ।

१९७. गदी—गदो रोगः, सोऽस्यास्तीति । 'अत इनिठनौ' (५।२।११५) से मत्वर्थ में इनि ।

१९८. वृष्टमात्रे—वृष्टे एव । मयूरव्यंसकादि । 'मात्र' अवधारण अर्थ में है । विरवितुम्—रु-तुमुन् । रु सेट् है । 'ऊदृदन्तैर्यौतिरुक्ष्णु—' इस कारिका में रु का पाठ है ।

१९९. गमनाय—यहाँ 'गन्तुम्' नहीं कह सकते । तुमुन् समानकर्तृकता में ही होता है । यहाँ 'अनुजानीहि' का कर्ता युष्मद् और 'गमन' का कर्ता अस्मद् है, सो कर्तृ-भेद स्पष्ट है ।

१९५. पाठ में नित्य प्रमादी उस निकम्मे शिष्य को कमरे से निकल जाने के लिये कहो।

१९६. बिना कारण न तो कुछ उत्पन्न हो सकता है न नष्ट हो सकता है।

१९७. यह बहुत देर से बीमार रहा है। अब यद्यपि रोग से निर्मुक्त हो गया है तो भी एक पद भी नहीं चल सकता।

१९८. मेंह बरसते ही चारों ओर मेण्ढक टर्राने लगे।

१९९. (अब) मुझे जाने दीजिये। जाइये, फिर भी दर्शन देना।

२००. मुझ से यह रहस्य देर तक रखा न जा सकेगा।

२०१. मेरे घर में नित्य ही धन और धान्य की बहुतायत हो।

२०२. मुझे आत्माऽभिन्न ब्रह्म का बोध हो गया है। अब बेचारी माया मेरा उपहास नहीं कर सकती।

२०३. यह अपराध पहला था इसलिये गुरु जी ने क्षमा कर दिया। अतः दूसरा मत करना।

---

२००. गोपायितुम्—गुपू रक्षणे से तुमुन् परे होने पर तीन रूप बनते हैं—गोपायितुम्, गोपितुम्, गोप्तुम्। 'आयादय आर्धधातुके वा', स्वरति-सूतिसूयतिधूञूदितो वा—इन दो सूत्रों की प्रवृत्ति इस में कारण है।

२०१. धनधान्यस्य—धनं च धान्यं च। 'सर्वो द्वन्द्वो विभाषैकवद् भवति' इस वचन से समाहार द्वन्द्व होता है। अथवा धन और धान्य जातिशब्द हैं, अतः 'जातिरप्राणिनाम्' (२।४।६) से समाहारद्वन्द्व समझना चाहिये। स्फातिः—यह शुद्ध रूप है, 'स्फीतिः' नहीं।

२०२. जागरितः—यही शुद्ध रूप है। जागृ अनेकाच् होने से सेट् है। 'जाग्रोऽवि—' इस से क्त परे होने पर (क्कित् होने से) गुण होता है। 'जागृतः' यह दुष्ट शब्द है।

२०३. मर्षितः—यहाँ 'मृषस्तितिक्षायाम्' (१।२।२०) से निष्ठा कित् नहीं रही, सो गुण हुआ। मा स्म चारीः—चर् का लुङ्।

२०४. वृत्तं पारायणं छन्दसां देवदत्तेन। इदानीं पाणिनीयाष्टकं प्रपठति।

२०५. तन्त्रके अस्यूते वाससी वसित्वा यज्ञवेद्यामासीदेत्।

२०६. यत्तं मया चिराय व्याकरणमवगन्तुं न च पारितम्। तत्र मे प्रज्ञापराधो न शास्त्रापराधः।

२०७. महतीं पित्र्यां विभूतिमसदर्थेषु विनियुज्य क्षपयत्यद्रव्यं सुतः।

२०८. आसीत् कालो यत्र परवत्तया परयाऽवसीदत्यो लोहभस्त्रा इवोच्छ्वसत्य आर्यललनाः कथं कथमपि कालमनयन्।

२०९. परोपकारप्रियोऽप्यसावनृतिक इति नापलाप्यम्।

२१०. जाने दुष्करमिदं कृत्यं तथापि मया तत्र प्रवृत्यम्। एषा मे व्यवस्थिता मनीषा।

---

२०४. वृत्तम्—यहाँ 'णेरध्ययने वृत्तम्' (७।२।२६) से 'णि' को लुक् और इट् का अभाव निपातन किया है। अध्ययन में 'वर्तित' यह प्रयोग नहीं होता।

२०५. तन्त्रके—यहाँ 'तन्त्रादचिरापहृते' (५।२।७०) से कन् प्रत्यय होता है। वसित्वा—वस आच्छादने अदादि आ०।

२०६. यत्तम्—यती प्रयत्ने, इस का क्तान्त रूप है। 'श्वीदितो निष्ठायाम्' (७।२।१४) से इट् का निषेध हो गया।

२०७. अद्रव्यं सुतः—'द्रव्यं च भव्ये' (५।३।१०४) से 'द्रव्य' निपातित किया गया है। भट्टोजि दीक्षित 'द्रव्यमयं ब्राह्मणः' ऐसा उदाहरण देते हैं। अमरकोष में 'द्रव्यं भव्ये गुणाश्रये' ऐसा पाठ है। जिससे प्रतीत होता है कि 'भव्य' अर्थ में भी कोषकार को क्लीबता इष्ट है, नहीं तो भव्ये त्वभिधेयवत् ऐसा कहता। पर काशिका में द्रव्योऽयं राजपुत्रः। द्रव्योऽयं माणवकः ऐसे

२०४. देवदत्त ने छन्दों का पारायण समाप्त कर लिया है, अब अष्टाध्यायी पढ़ना प्रारम्भ किया है।

२०५. खड्डी से निकले अनसिले वस्त्रों को पहन कर यज्ञवेदि पर बैठे।

२०६. मैं ने बहुत देर तक व्याकरण जानने का यत्न किया, पर जान न सका। इस में मेरी बुद्धि का दोष है, शास्त्र का नहीं।

२०७. पिता से प्राप्त हुई भारी सम्पत्ति को बुरे कामों में लगा कर अयोग्य पुत्र नष्ट कर रहा है।

२०८. कोई समय था जब बड़ी भारी पराधीनता से तंग आई हुई धौंकनी की तरह सांस लेती हुई आर्य ललनाएँ ज्यों-त्यों समय काटती थीं।

२०९. परोपकार-रसिक होता हुआ भी वह झूठा है, इस से इनकार नहीं हो सकता।

२१०. मैं जानता हूँ कि यह कार्य कठिन है, पर मुझे इस में प्रवृत्त होना ही है। यह मेरा निश्चित विचार है।

उदाहरण दिये हैं। औणादिकपदार्णव का कर्ता भी 'द्रव्य' का तीनों लिङ्गों में प्रयोग ठीक मानता है—'द्रव्यो भव्ये त्रिषु स्मृतः' (१।२३९)।

२०८. अवसीदत्यः—अवसीदन्त्यः। 'आच्छीनद्योर्नुम्' (७।१।८०) से विकल्प से नुम् होता है।

२०९. अनृतिकः—अनृतमस्यास्ति इति। ठन्। नापलाप्यम्—न अपलाप्यम्। लप् से 'पोरदुपधात्' (३।१।९८) से यत् प्राप्त हुआ था। 'ण्यत्प्रकरणे लपिदभिभ्यां चेति वक्तव्यम्' इस वार्तिक से ण्यत् प्रत्यय होता है।

२१०. प्रवृत्यम्—प्रवर्तनीयम्, प्रवर्तितव्यम्। यहाँ 'ऋदुपधाच्चाक्लृपिचृतेः' (३।१।११०) से क्यप् प्रत्यय होता है। मनीषा—मनस् ईषा, शकन्ध्वादि होने से पररूप एकादेश हो गया।

२११. नेदमुश्मो व्याकरणाधीत्यामेव शश्वद्रतः स्याः । विषयान्तराण्यपि ते समादृत्यानि ।

२१२. अयं मे प्रियतमः शिष्य इति विषमे वृत्त्युपायं साध्वनुशिष्यः ।

२१३. चिरन्तनाः सखाय इति न ते विषमे विस्मार्याः । कर्तव्यमेव साचिव्यं यच्छक्यम् ।

२१४. शोभते ते वयस्यानामतिशायनं गुणैः । मत्सर एव तु परिहार्यः ।

२१५. मांसमेवोपचिनोति मांसाद् न तु बुद्धिमिति वैद्याः ।

२१६. अयं प्रमदजः प्रमाद इति जानन्मर्षये ।

२१७. अज्ञानामनात्मज्ञानां समुदाय एष इति नायं समाजः, समजस्त्वेषः ।

२१८. बाह्येन्द्रियोपरामे मनोमात्रे चानुपरते जायन्ते स्वप्नसन्दर्शनानि ।

---

२११. उश्मः—वश कान्तौ अदादि प० । कान्ति=इच्छा । समादृत्यानि—'एतिस्तुशास्वृदृजुषः क्यप्'—(३।१।१०९) से क्यप् प्रत्यय हो गया । 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' (६।१।७१)—इस से तुक् का आगम ।

२१२. शिष्यः, अनुशिष्यः—यहाँ 'एतिस्तुशास्—' (३।१।१०९) से क्यप् होता है । शास् द्विकर्मक है और दुह्याचपचदण्ड—इत्यादि बारह धातुओं में से है, अतः 'गौणे कर्मणि दुह्यादेः—' इत्यादि कारिका के अनुसार यहाँ गौण कर्म में प्रत्यय हुआ । अतः गौण कर्म शिष्य के उक्त होने से उस में प्रथमा हुई। प्रधान कर्म—'वृत्त्युपाय' के अनुक्त होने से उस में द्वितीया रही ।

२१३. विस्मार्याः—'ऋहलोर्ण्यत्' (३।१।१२४) से ण्यत् प्रत्यय हुआ ।

२१४. अतिशायनम्—'अतिशायने तमविष्ठनौ' (५।३।५५) में अतिशायन शब्द निपातन किया है । यहाँ शास्त्र से अप्राप्त धातु-वृद्धि ही निपातित है । बाधकान्येव निपातनानि भवन्ति—इस न्याय से 'अतिशयन'

२११. हम यह नहीं चाहते कि तू व्याकरणाध्ययन में लगा रहे, दूसरे विषयों का भी तुझे खयाल रखना है।

२१२. यह मेरा प्रियतम शिष्य है, अतः इसे संकट में जीविका के विषय में अच्छी तरह समझाना चाहिये।

२१३. ये पुराने मित्र हैं अतः संकट में इन्हें भूलना नहीं चाहिये। जो सहायता बन सके, करनी चाहिये।

२१४. मित्रों से गुणों में बढ़ जाना तुझे शोभा देता है। केवल डाह का ही त्याग करना चाहिये।

२१५. मांसाहारी मांस को बढ़ाता है, बुद्धि को नहीं, ऐसा वैद्य कहते हैं।

२१६. यह हर्ष-जनित प्रमाद है, यह जान कर क्षमा कर देता हूँ।

२१७. मूर्ख और अज्ञानियों के इस समुदाय को 'समाज' नहीं कहना चाहिये, किन्तु 'समज' नाम से पुकारना चाहिये।

२१८. जब बाह्य इन्द्रियाँ शान्त हो जाती हैं, केवल मन ही सक्रिय होता है उस समय स्वप्न आया करते हैं।

(वृद्धि-रहित, गुण वाला रूप) नहीं होता।

२१५. मांसात्—'अदोऽनन्ने' (३।२।६८) से विट् होता है, अण् नहीं हो सकता।

२१६. प्रमदजः—'प्रमदसंमदौ हर्षे' (३।३।६८) इस सूत्र से 'प्रमद' हर्ष अर्थ में निपातित किया गया है।

२१७. समाजः—सम्-पूर्वक अज गतिक्षेपणयोः इस धातु से घञ् प्रत्यय होकर सिद्ध होता है। समजः—यह पशुवाच्य होने पर अप् प्रत्ययान्त है। यद्यपि यहाँ मनुष्यों का समुदाय है तो भी जडता के कारण पशु-तुल्य होने के कारण मनुष्यों के समुदाय को भी यहाँ 'समज' कहा गया है। यह औपमिक प्रयोग है—समज इव समजः।

२१८. बाह्येन्द्रियोपरामे—उपराम शब्द भाव में घञन्त है। यहाँ उपधा-वृद्धि का किसी शास्त्र से निषेध नहीं।

२१९. प्रभूताः स्वा न दीयन्ते इत्याभणन्ति । सत्यं दुःखमर्जिताः श्रियः सुदाना न भवन्ति ।

२२०. एको दृतिहरिर्भवत्यपरो दृतिहारः । कस्तयोर्विशेषः ?

२२१. इमे खनीनां खनितारोऽश्रान्तं श्रान्ता विश्रममर्हन्ति ।

२२२. शिक्षकरूपो हि समूलकाषं कषति दुराग्रहमभिमानं च शिष्याणाम् ।

२२३. वसुन्धरेयं नो जननी वसुधरेति कोऽसंमूढः संशयीत ।

२२४. पाराशर्यो व्यास उच्यते, न चासौ पराशरस्य गोत्रापत्यम् । तत्कथम् ?

---

२१९. स्वाः—धनवाचक 'स्व' उभयलिङ्ग है । स्वः, स्वम् । सुदानाः—सुखं दीयन्त इति । 'आतो युच्' (३।३।१२८) से खल् प्रत्यय के अर्थ में युच् (=अन) होता है ।

२२०. 'हरतेर्दृतिनाथयोः पशौ' (३।२।२५) से इन् प्रत्यय होता है जब हरण क्रिया का कर्ता पशु हो । दृतिहरिः श्वा भवति । पानी की मशक उठाने वाले पुरुष को 'दृतिहार' (अण् प्रत्यय करके) कहते हैं ।

२२१. अश्रान्तम्—यहाँ लक्षणा से निरन्तर, लगातार—यह अर्थ है । श्रान्त=थका हुआ, और जो थक जाता है वह थम जाता है । अतः श्रान्त का अर्थ हुआ थमा हुआ । अश्रान्तम्—क्रियाविशेषण है, विना थमे, अर्थात् निरन्तर । श्रान्ताः—मेहनत किये हुए । श्रम् के दो अर्थ हैं—तपः (मेहनत) और खेद (थकावट) । विश्रमम्—'नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्य—' (७।३।३४) से यहाँ घञ् प्रत्यय होने पर जो उपधावृद्धि प्राप्त थी वह रुक गई । श्रम् उदात्तोपदेश मान्त धातु है । 'विश्राम' शब्द अपाणिनीय है ।

२१९. बहुत धन नहीं दिया जाता ऐसी कहावत है। सच है दुःख उठा कर कमाया हुआ धन देना आसान नहीं।

२२०. एक दृति (=खाल) उठाने वाला होने से 'दृतिहरि' कहलाता है दूसरा दृति (=मशक) उठाने वाला होने से 'दृतिहार' कहलाता है। इन शब्दों में क्या भेद है?

२२१. खानों के खोदने वाले इन लोगों ने निरन्तर परिश्रम किया है, अब इन्हें विश्राम चाहिये।

२२२. योग्य शिक्षक शिष्यों के दुराग्रह और अभिमान को जड़ से काट देता है।

२२३. यह पृथिवी हमारी माता (नाना) धनों को धारण कर रही है इस में किसे सन्देह हो सकता है जो मूढ न हो?

२२४. भगवान् वेदव्यास को 'पाराशर्य' कहते हैं, पर वह पराशर का 'गोत्रापत्य' तो नहीं। तो यह क्योंकर संगत होता है?

---

२२२. शिक्षकरूपः—प्रशस्यः शिक्षकः (यः प्रशस्यं शिक्षयति)। यहाँ 'प्रशंसायां रूपप्' (५।३।६६) से धात्वर्थ की स्तुति में रूपप् प्रत्यय होता है। समूलकाषम्—'समूलनिमूलयोः कषः' (३।४।३४) से णमुल् होता है और 'कषादिषु यथाविध्यनुप्रयोगः' (३।४।४६) से कष् धातु का ही अनुप्रयोग होता है।

२२३. वसुन्धरा—'संज्ञायां भृतॄवृजि—' (३।२।४६) से खच् प्रत्यय होता है। 'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' (६।३।६७) से मुम् का आगम। वसुधरा—यह क्रियाशब्द है, संज्ञा नहीं। वसुनो धरा। धृ धातु से पचाद्यच्।

२२४. पाराशर्यः—पराशरस्यापत्यं पुमान् 'पाराशरः' होना चाहिये। ऋषि शब्द होने से अण् प्राप्त है। गोत्रापत्य में तो 'गर्गादिभ्यो यञ्' से यञ् प्रत्यय होकर पाराशर्य होगा। पर व्यास पाराशर का गोत्रापत्य नहीं। इस का एकमात्र समाधान यही है कि यहाँ अनन्तर अपत्य में गोत्रापत्य का आरोप करके ऐसा कहा गया है। आरोप में यह हेतु मालूम पड़ता है—

२२५. मानवमाणवयोर्विशेषं चेद्वेत्थ नूनं विशेषज्ञोऽसि ।

२२६. प्रायेण भ्रातृव्या भ्रातृव्या भवन्ति ।

२२७. भीष्मे त्रैशब्द्यं श्रूयते—गाङ्गो गाङ्गेयो गाङ्गायनिरिति । तत्कस्मात् ?

२२८. अयं श्वाशुरिः, अयं च श्वशुर्यः । को विशेषः ?

२२९. ये भगवति श्राद्धाः प्रणताश्च ते पूतपापाः स्वर्गाय राध्यन्ति ।

२३०. अयं वातातिसारी, अयमतिसारकी ।

२३१. अत्र जनपदे नाऽवृत्तिः कश्चिदस्ति, न वाऽनेकवृत्तिः ।

जब किसी के वृद्धावस्था में पुत्र हो तो वह पौत्र के समान होता है, उसके साथ पौत्र का सा व्यवहार होता है ।

२२५. मानवः—यह जातिवाचक शब्द है । 'मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च' (४।१।१६१) से यहाँ अञ् प्रत्यय होता है । यहाँ अपत्यार्थ विवक्षित नहीं । मनोरपत्यं मानवः । अण् । कुत्सितो मूढो वा मानवः=माणवः । यहाँ तस्यापत्यम् (४।१।९२) से अण् होता है और मूढ आदि अर्थ में णत्व भी । अल्पो माणवः=माणवकः । 'अल्पे' (५।३।८५) से 'क' प्रत्यय होता है ।

२२६. भ्रातृव्याः—भ्रातुष्पुत्राः । 'भ्रातुर्व्यच्च' (४।१।१४४) से अपत्यार्थ में व्यत् प्रत्यय हुआ । भ्रातृव्याः—शत्रवः । यहाँ भ्रातृ शब्द से 'व्यन्सपत्ने' (४।१।१४४) से व्यन् प्रत्यय होता है । अर्थ के साथ स्वर का भी भेद है ।

२२७. गङ्गा शब्द का शिवादिगण (४।१।११२), तिकादिगण (४।१।१५४) तथा शुभ्रादिगण (४।१।१२३) में पाठ आया है । अतः गङ्गाया अपत्यं पुमान् इस अर्थ में अण्, फिञ् और ढक् क्रम से होकर उक्त रूप-त्रय की सिद्धि होती है ।

२२५. यदि 'मानव' तथा 'माणव' शब्दों के अर्थभेद को जानते हो तो निश्चित ही अधिक जानते हो।

२२६. प्रायः भाइयों के पुत्र आपस में शत्रु होवे हैं।

२२७. भीष्म के लिये तीन शब्दों का प्रयोग होता है—गाङ्ग, गाङ्गेय, गाङ्गायनि। यह कैसे होता है ?

२२८. इसे श्वाशुरि कहते हैं, इसे श्वशुर्य। इस में क्या अर्थ-भेद है ?

२२९. जो भगवान् में श्रद्धा और भक्ति रखते हैं उनके पाप धुल जाते हैं और वे स्वर्ग प्राप्ति के योग्य बन जावे हैं।

२३०. इसे वात और अतिसार रोग हैं, इसे केवल अतिसार है।

२३१. इस देश में बिना जीविका के कोई नहीं, और न ही कोई अनेक जीविकाओं वाला है।

---

२२८. श्वाशुरिः—श्वशुर नाम का कोई पुरुष, उस का पुत्र श्वाशुरि होगा। 'बाह्वादिभ्यश्च' (४।१।९६) से अपत्यार्थ में इञ् हुआ। श्वशुर्यः—यहाँ संज्ञा नहीं, 'राजश्वशुराद्यत्' (४।१।१३७) से अपत्यार्थ में यत् प्रत्यय होता है। प्रत्यय विधान में सम्बन्धी शब्द 'श्वशुर' प्रकृति रूप में लिया जाता है न कि अप्रसिद्ध संज्ञा-वाचक।

२२९. श्राद्धाः—'प्रज्ञाश्रद्धार्चाभ्यो णः' (५।२।१०१) से श्रद्धा शब्द से मत्वर्थ में 'ण' प्रत्यय होता है। श्रद्धाऽस्त्येषामिति श्राद्धाः। श्रद्धावत् कर्म को भी 'श्राद्ध' कहते हैं। राध्यन्ति—सिध्यन्ति=कल्पन्ते। यहाँ अलमर्थ होने से 'नमः स्वस्तिस्वाहा—' (२।३।१६) से 'स्वर्ग' से चतुर्थी होती है।

२३०. वातश्चातिसारश्च=वातातिसारौ (रोगौ), तौ स्तोऽस्य। 'द्वन्द्वोपताप—' (५।२।१२८) से मत्वर्थ में इनि प्रत्यय हुआ। अतिसारकी—यहाँ वातातिसाराभ्यां कुक् च (५।२।१२९) से इनि प्रत्यय और कुक् का आगम होता है।

२३१. अवृत्तिः—अविद्यमाना वृत्तिरस्य। बहुव्रीहि।

२३२. कार्पासानि वासांसि न तथा हृदयग्रहणीयानि भवन्ति यथा कौशेयानि।

२३३. यथा जातुषाण्याभरणानि परिहरणीयानि भवन्ति तथा त्रापुषाणि गृहभाजनानि।

२३४. योऽयं कौमारेऽनभिविनीतः स कदा नु विनयं ग्रहीता ?

२३५. चौरिकाचोरिकयोः शब्दयोः समानार्थकयोरपि भिद्यते व्युत्पत्तिः। तां चेद्वेत्थ शब्दविदसि नूनम्।

२३६. रमायाः कालिका शाटी, श्यामायाश्च श्येनीत्युभे सम्पद्येते।

२३७. अयं लोहितकः कोपेन। एनं परिहर।

२३८. इदं सांवत्सरं पर्वेति नानादिग्देशेभ्यः संनिपतन्ति यात्रिकास्तीर्थेषु सिष्णासवः।

---

२३२. कार्पासानि—कर्पास्या विकाराः। 'बिल्वादिभ्योऽण्' (४।३।१३६) से यहाँ अण् होता है। मयट् आच्छादन में नहीं होता, अतः 'कर्पासमय' अपशब्द ही है। कौशेयानि—कौशेयं कृमिकोशोत्थम्—अमर। कोशशब्द से कोशाड्ढञ् (४।३।४२) से 'तत्र संभूते' अर्थ में ढञ् होता है। कोशे संभूतं कौशेयम्।

२३३. जातुषाणि, त्रापुषाणि—'त्रपुजतुनोः षुक्' (४।३।१३८) से विकार अर्थ में अण् प्रत्यय होता है और साथ ही 'षुक्' का आगम भी होता है।

२३४. कौमारे—कुमारस्य भावः, तस्मिन्। 'प्राणभृज्जाति—' (५।१।१२९) से अञ् प्रत्यय होता है।

२३५. चौरिका—'द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यश्च' (५।१।१३३) से वुञ् होता है। चोर शब्द मनोज्ञादियों में पढ़ा है। चोरस्य कर्म चौरिका। चोरिका—'धात्वर्थनिर्देशे ण्वुल् वक्तव्यः' इस वचन से चोरि धातु से ण्वुल् होने पर

२३२. कपास के वस्त्र इतने हृदयग्राही नहीं होवे जितने रेशम के।

२३३. जतु (=लाख) के बने हुए भूषण जिस प्रकार त्यागने योग्य हैं वैसे ही त्रपु (=रांग) के बने हुए घर के बर्तन भी।

२३४. जो कुमारावस्था में विनय-रहित है वह कब विनय ग्रहण करेगा !

२३५. चौरिका और चोरिका शब्दों के समानार्थक होते हुए भी व्युत्पत्ति-भेद है। इस व्युत्पत्ति को यदि तू जानता है निश्चय ही व्याकरण जानता है।

२३६. रमा की साड़ी काली है, श्यामा की श्वेत है, दोनों ही शोभा पाती हैं।

२३७. यह क्रोध से लाल हो रहा है। इस से परे हटो।

२३८. यह वार्षिक उत्सव है अतः नाना दिशाओं और देशों से यात्री लोग तीर्थों में स्नान करने की इच्छा से इकट्ठे हो रहे हैं।

स्त्रीत्व में टाप् हो जाने पर रूप सिद्ध होता है।

२३६. कालिका—काली रंगी हुई। 'कालाच्च' (५।४।३३) से कन् प्रत्यय होता है। जो स्वभाव से काली है वहाँ कन् नहीं होगा—काली निशा। श्येनी—श्येत के स्त्रीलिङ्ग में दो रूप होते हैं—श्येता, श्येनी। 'वर्णादनुदात्तात्—' (४।१।३९) से ङीप् प्रत्यय होता है और त् को न् भी विकल्प से। सम्पूर्वक पद् का अर्थ शोभा पाना, सुन्दर होना भी है, इस में 'सम्पादिनि' (५।१।९९) सूत्र प्रमाण है। सम्पादि=अवश्यं शोभते।

२३७. लोहितकः—'वर्णे चानित्ये' (५।४।३१) से लोहित शब्द से कन् प्रत्यय होता है जब वर्ण (रंग) थोड़े समय तक रहने वाला हो। कोप के शान्त होते ही लाली चली जाती है।

२३८. सांवत्सरम्—संवत्सरे भवम्। 'संवत्सरात्फलपर्वणोः' इस गण-सूत्र से अण् होता है। फल अथवा पर्व यदि वाच्य न हो तो 'कालाट्ठञ्' (४।३।११) से ठञ् होकर 'सांवत्सरिक' रूप निष्पन्न होगा।

२३९. गोमहिष्यादयो ग्राम्याः पशवः, गवयादयस्त्वारण्याः। पूर्वं पादबन्धनमुच्यन्ते।

२४०. राजवंश्योयं न तु राजा, तथापि राजवदस्य कर्माणि।

२४१. इयं सामुद्रिका नौः, इयं च नादेयी, विशेषो हि लक्ष्यते।

२४२. काश्मीरका हि प्रायेण दुर्गता अत एव कौसृतिकाः।

२४३. किं भो आङ्गोऽसि ? नाहमाङ्ग आङ्गकस्त्वस्मि।

२४४. अयं दाण्डाजिनिक आयःशूलिकश्च। तस्मात्त्रस्यति लोकोऽस्मात्।

२४५. इदं कौमुद्यां पौर्वार्द्धिकं सूत्रमिदं चौत्तरार्द्धिकम्।

२४६. प्रायेणापूपिका वैश्याः पायसिकाश्च विप्राः।

---

२३९. आरण्याः—'अरण्याण्णः' इस वार्तिक से 'ण' होता है शेष अर्थ में। अरण्ये भवा जाता वा आरण्याः।

२४०. राजवत्—राजानमर्हन्ति। 'तदर्हम्' (५।१।११७) से वति प्रत्यय होता है। वतिप्रत्ययान्त अव्यय होते हैं।

२४१. सामुद्रिका—समुद्रे भवा। यहाँ 'धूमादिभ्यश्च' (४।२।१२७) से शैषिक वुञ् प्रत्यय होता है। इस गण में समुद्रान्नावि। मनुष्ये च—ये दो गणसूत्र पढ़े हैं। सो सामुद्रं जलम्, सामुद्रस्तरङ्गः इत्यादि में वुञ् नहीं होता। नादेयी—नद्यां भवा। यहाँ 'नद्यादिभ्यो ढक्' (४।२।९७) से शैषिक ढक् प्रत्यय होता है।

२४२. काश्मीरकाः—कश्मीरेषु भवाः। यहाँ 'मनुष्यतत्स्थयोर्वुञ्' (४।२।१३४) से वुञ् प्रत्यय शैषिक होता है। 'कश्मीर' शब्द कच्छादियों में पढ़ा है। कौसृतिकाः—कुसृतिः कुटिला गतिः शीलमेषां ते। 'शीलम्' (४।४।६१) से ठक् हुआ।

२४३. आङ्गकः—अङ्गेषु भवः। यहाँ 'अवृद्धादपि बहुवचनविषयात्'

२३९. गौ भैंस आदि ग्रामों में रहने वाले पशु हैं, गवय आदि जंगली हैं। पहले वर्ग के पशुओं का एक नाम 'पादबन्धन' है।

२४०. यह राजवंशी है, राजा नहीं, तो भी इस के कर्म राजा के योग्य हैं।

२४१. यह समुद्र की नौका है, यह नदी की। दोनों में भेद है।

२४२. कश्मीर के लोग दरिद्र हैं अतः कपटी हैं।

२४३. क्या आप अङ्ग देश के रहने वाले हैं। जी हाँ, पर मुझे 'आङ्गक' कहना चाहिये, आङ्ग नहीं।

२४४. यह दम्भी भी है और क्रूरकर्मा साहसी भी, अतः लोग इस से भय खाते हैं।

२४५. यह सिद्धान्तकौमुदी के पूर्वार्द्ध का सूत्र है और यह उत्तरार्द्ध का।

२४६. प्रायः वैश्य पूओं के प्यारे होते हैं, और ब्राह्मण पायस (खीर) के।

(४।२।१२५) से वुञ् होता है। यह वुञ् अण् का अपवाद है। अतः 'आङ्गः' अपशब्द ही है।

२४४. दाण्डाजिनिकः—दण्डाजिनं दम्भः, तेनान्विच्छति (अर्थम्)। दम्भ से स्वार्थ सिद्ध करने वाला। यहाँ 'अयःशूलदण्डाजिनाभ्यां ठक्ठञौ' (५।२।७६) से ठञ् प्रत्यय होता है। आयःशूलिकः—अयःशूलं तीक्ष्ण उपायः, तेनान्विच्छति (स्वार्थम्)। यहाँ उक्त सूत्र से ठक् होता है।

२४५. पौर्वार्द्धिकम्, औत्तरार्द्धिकम्—यहाँ 'दिक्पूर्वपदाट्ठञ् च' (४।३।६) से ठञ् और यत् प्रत्यय होते हैं। यत् होने पर पूर्वार्द्धयम्, उत्तरार्द्धयम्—ये दो रूप भी बनते हैं।

२४६. आपूपिकाः, पायसिकाः—यहाँ 'अचित्ताददेशकालाट्ठक्' (४।३।९६) से भक्ति अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। अपूपा भक्तिरस्य इत्यापूपिकः। पायसं भक्तिरस्य इति पायसिकः। भक्ति शब्द में कर्म में क्तिन् हुआ है, भज्यते सेव्यत इति भक्तिः। अपूपभक्षणं शीलमस्य, पायसभक्षणं शीलमस्य—ऐसा विग्रह भी हो सकता है। तब 'शीलम्' (४।४।६१) से ठक् प्रत्यय होगा।

२४७. केचिदाहुर्गव्यं पयो गुणवत्तमम्, अपर आजमिति ।

२४८. किमीयं पौरस्त्यमिदं गेहम् । विशेषयतीदं गृहान्तराणि रामणीयकेन ।

२४९. श्रावण इति प्रथमो वार्षिको मासः ।

२५०. पच्छो गायत्रीं शंसति श्रोत्रियवच्चार्थापयति ।

२५१. इयं शस्त्रिकल्पा । शक्यमनयापि मांसशकलं कर्तितुम् ।

२५२. उभे अपि भगिन्यौ विदुष्यौ । तथाऽपि कनीयसी विदुषितरा ।

२५३. योऽधर्मं चरति सोऽधार्मिक इत्यज्ञवद् वचनम् ।

२५४. आसुतीवलो ह्यभोज्यान्न इति स्मरन्त्यृषयः ।

---

२४७. गव्यम्—'सर्वत्र गोरजादिप्रत्ययप्रसङ्गे यत्' इस वचन से यत् होता है । अजाया इदम् आजम् । 'तस्येदम्' (४।३।१२०) से अण् ।

२४८. किमीयम्—कस्येदम् इति । 'त्यदादीनि च' (१।१।७४) से किम् की 'वृद्ध' संज्ञा होकर 'वृद्धाच्छः' (४।२।११४) से 'छ' प्रत्यय हुआ । पौरस्त्यम्—यहाँ पुरस् शब्द से 'दक्षिणापश्चात्पुरसस्त्यक्' (४।२।९८) से त्यक् प्रत्यय शैषिक होता है । पुरो भवं पौरस्त्यम् । आदि वृद्धि । रामणीय-केन—रमणीयस्य भावः=रामणीयकम् । 'योपधाद् गुरूपोत्तमाद् वुञ्' (५।१।१३२) से वुञ् प्रत्यय होता है ।

२४९. वार्षिकः—वर्षासु भवः । 'वर्षाभ्यष्ठक्' (४।३।१८) से ठक् प्रत्यय शैषिक होता है ।

२५०. पच्छः—पादं पादम् इति । 'संख्यैकवचनाच्च वीप्सायाम्' (५।४।४३) से वीप्सा अर्थ में शस् प्रत्यय होता है और 'ऋचः शे' (६।३।५५) से

२४७. कोई कहते हैं गौ का दूध सब से अधिक गुणकारी होता है, कोई बकरी का ।

२४८. यह सामने का घर किस का है । यह दूसरे घरों से रमणीयता में बढ़ चढ़ कर है ।

२४९. श्रावण बरसात का पहला महीना है ।

२५०. पाद-पाद कर के गायत्री का उच्चारण करता है और वेदपाठी की तरह इस का अर्थ करता है ।

२५१. यह छुरी का काम दे सकती है । इस से भी मांस का टुकड़ा काटा जा सकता है ।

२५२. दोनों बहिनें विदुषी हैं, तथापि छोटी अधिक विदुषी है ।

२५३. जो अधर्म करता है वह अधार्मिक होता है, ऐसा कहना मूर्खों के ही योग्य है ।

२५४. कलाल का अन्न (विप्र आदि के लिये) खाने योग्य नहीं, ऐसा ऋषि कहते हैं ।

पाद को 'पद्' आदेश होता है । अर्थापयति—अर्थमाचष्टे । 'अर्थवेदसत्यानामापुग्वक्तव्यः' इस वचन से णिच् परे होने पर 'अर्थ' को आपुक् का आगम होता है ।

२५१. शस्त्रिकल्पा—यहाँ 'घरूपकल्प' (६।३।४३) से शस्त्री के ई को कल्पप् प्रत्यय परे होने पर ह्रस्व हो जाता है ।

२५२. विदुषितरा—यहाँ 'उगितश्च' (६।३।४५) से विकल्प से ह्रस्व होता है । ह्रस्वाभाव पक्ष में 'तसिलादिष्वाकृत्वसुचः' (६।३।३५) से पुंवद्भाव हो जायगा । विदुषीतरा—रूप अशुद्ध है ऐसा दीक्षित का मत है । काशिकाकार इसे भी उपपन्न मानता है ।

२५३. अधार्मिकः—धर्मं चरतीति धार्मिकः, स न भवतीति अधार्मिकः । योऽधर्मं चरति स आधर्मिकः । 'अधर्माच्चेति वक्तव्यम्' इस वार्तिक से ठक् ।

२५४. आसुतीवलः—यहाँ 'रजःकृष्यासुतिपरिषदो वलच्' (५।२।११२)

२५५. चौररूपोऽयं यदक्ष्णोरप्यञ्जनं हरति।

२५६. यदितो वत्सराणां पञ्चसाहस्र्यामभूत् तदिदानीमपि पश्यामोरूपमिति स प्रसादो भगवतो व्यासस्य।

२५७. अद्य सुतरां सुस्था भवन्त इति हार्दो नः परितोषः।

२५८. कर्मकराणामिमाः कदर्थना याम्या यातना अप्यतिशेरते।

२५९. नाहमस्यान्तरमभिप्रायं वेद, न चायं स्वयं निर्वक्ति।

२६०. लक्ष्मणो मेऽनुजोऽपूर्वी, भार्यया चार्थीति रामेण शूर्पणखोक्ता।

२६१. *ब्राह्मण्यं कृत्स्नमेतत्त्वां ब्रह्मण्यमनुगच्छति।

२६२. इतः प्राह्णतरे प्रस्थाताह इति मतिर्मम। विघ्नश्चेन्नातर्कित-मुपनमति।

से मत्वर्थ में वलच् प्रत्यय होता है। 'आसुति' के 'इ' को 'वले' (६।३।११८) से दीर्घ होता है।

२५५. चौररूपः—यो निपुणं चोरयति स चौररूपः। 'प्रशंसायां रूपप्' (५।३।६६)। प्रशंसा=धात्वर्थस्तुति।

२५६. पश्यामोरूपम्—विशदं पश्यामः। यहाँ भी प्रशंसा में रूपप् प्रत्यय है।

२५७. हार्दः—हृदि संभूतः। 'तत्र संभूतः' इस अर्थ में शैषिक अण्। सुस्थाः—'सुः पूजायाम्' (१।४।९४) से 'सु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने पर 'आ कडारादेका संज्ञा' (१।४।१) इस नियम से उपसर्ग संज्ञा का बाध हो जाने से 'उपसर्गात्सुनोतिसुवति—' (८।३।६५) से स् को मूर्धन्यादेश नहीं होता।

२५८. कर्मकराणाम्—'कर्मणि भृतौ' (३।२।२२) से 'ट' प्रत्यय है। कर्मकर=भृतक। जो स्वतन्त्र हो कर्म करता है, वह 'कर्मकार' होता है। वहाँ अण् प्रत्यय ही होता है। याम्याः—यमसम्बन्धिन्यः। यमस्येमा याम्याः।

२५५. यह बढ़िया चोर है जो आँखों के अञ्जन को चुरा लेता है ।

२५६. जो आज से पाँच हजार वर्ष पहले घटनायें घटीं, यदि आज भी उन्हें हम स्पष्ट रूप से देखते हैं, तो यह भगवान् वेदव्यास की कृपा है ।

२५७. आज आप बिल्कुल तन्दुरुस्त हैं यह जान कर हमें हार्दिक प्रसन्नता हुई है ।

२५८. मज़दूरों (नियुक्त लोगों) का यह अतिपीडन यम की यातनाओं से भी बढ़ गया है ।

२५९. मैं इसके अन्दरूनी भाव को नहीं जानता और न यह स्वयं स्पष्ट रूप से कहता है ।

२६०. मेरा छोटा भाई लक्ष्मण कँवारा है और भार्या चाहता है ऐसा राम ने शूर्पणखा से कहा ।

२६१. तुम ब्राह्मणों के हितैषी के पीछे यह समस्त ब्राह्मण समाज जा रहा है ।

२६२. यहाँ से पूर्वाह्ण के होते ही चल पड़ूँगा, यह मेरा विचार है, यदि कोई विघ्न अचानक न आ जाय ।

'दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः' (४।१।८५) इस सूत्र पर काशिकाकार 'यमाच्चेति वक्तव्यम्' यह वार्तिक पढ़ता है, उससे यहाँ 'ण्य' प्रत्यय होता है ।

२५९. आन्तरम्—अन्तरे भवम् । शैषिक अण् ।

२६०. अपूर्वी—न पूर्वी । 'पूर्वादिनिः' (५।२।८६) से इनि प्रत्यय होता है । पूर्वमूढा कन्याऽनेनेति पूर्वी । सूत्र में क्रिया का निर्देश नहीं । जिस किसी क्रिया का अध्याहार करके पूर्व शब्द से इनि विधान किया गया है । पूर्वं गतमनेन भुक्तं पीतं वा पूर्वी ।

२६१. ब्राह्मण्यम्—ब्राह्मणानां समूहः । 'ब्राह्मणमाणववाडवाद्यन्' (४।२।४२) से समूह अर्थ में यन् प्रत्यय होता है । ब्रह्मण्यम्—ब्रह्मणे (=ब्राह्मणेभ्यः) हितः तम् । 'खलयवमाषतिलवृषब्रह्मणश्च' (५।१।७) से यत् प्रत्यय होता है ।

२६२. प्राह्णेतरे—अतिशयेन प्राह्णे । 'घकालतनेषु कालनाम्नः' (६।३।१७) से कालवाची शब्द से आई हुई सप्तमी का विकल्प से अलुक् होता है ।

२६३. स षष्टिं रूप्यकाणि मासिकं वेतनं लभते न च निर्वृणोति।

२६४. मा स्म केवलो गमः। एते वयं त्वया समं यामः।

२६५. अयं महान् विद्वानस्ति, अयं च महाविद्वान्। अत्र वाक्यार्थे को विशेषः?

२६६. उद्यतासिर्व्यूढकङ्कटोऽभीतवद् यात्यरीन्योधः।

२६७. भस्मावगुण्ठितकलेवराः संमुद्रितश्रवणा मृदुपलिप्तवदन-विवराः केचित् तापसलिङ्गिन आत्मानमेवातिसन्दधति केवलम्।

२६८. तामसीवृद्धिरसौ पृथग्जनोऽसकृत्प्रेर्यमाणोपि न सुकृते प्रवर्तते।

---

२६३. निर्वृणोति—वृञ् वरणे, स्वादि। निर् उपसर्ग पूर्व वृञ् का अर्थ 'सुखी होना' हो जाता है। उपसर्ग के कारण ही धातु अकर्मक हो जाती है।

२६४. केवलः—एकाकी। मा स्म गमः—लुङ्। 'स्मोत्तरे लङ् च' (३।३।१६७) से माङ् उपपद के साथ यदि स्म शब्द भी पड़ा हो, तो लङ् प्रयोग भी हो सकता है। अतः 'मा स्म गच्छः' भी कह सकते हैं।

२६५. महान विद्वान्—विशेषणों का परस्पर विशेषणविशेष्यभाव नहीं होता। न ह्युपाधेरुपाधिरस्ति विशेषणस्य वा विशेषणम्'—ऐसा भाष्य-कार का वचन है। अतः ये दोनों विशेषण एक ही विशेष्य 'अयम्' के हैं। अर्थात् यह व्यक्ति महान् भी है और विद्वान् भी। पर महाविद्वान्—ऐसा समस्त होने पर दो विशेषणों का समास होने पर अगतिकतया एक को विशेष्य स्वीकार करना पड़ता है। अथवा 'विद्वान्' को भावप्रधान निर्देश मानकर महद् विद्वत्त्वमस्य—ऐसा विग्रह करने पर बहुव्रीहि समास होगा। महद् यथा स्यात्तथा विद्वानिति ऐसा विग्रह करके सुप्सुपा समास होगा।

२६३. वह साठ रुपये मासिक वेतन पाता है, पर सुखी नहीं है।
२६४. अकेले मत जाओ। हम भी अभी तुम्हारे साथ जायेंगे।
२६५. यह महान् (और) विद्वान् है, और यह महाविद्वान्। इन दो वाक्यों के अर्थ में क्या भेद है?
२६६. तलवार उठाए हुए और सन्नाह पहने हुए योद्धा शत्रुओं के प्रति निर्भयता से चल पड़ता है।
२६७. शरीर पर भस्म रमाये हुए कानों को बन्द किये हुए मुँह के छिद्र को मिट्टी से लीपे हुए कई एक बनावटी तपस्वी केवल अपने आप को धोखा देते हैं।
२६८. तमोगुण की वृद्धि वाला वह पामर बार-बार प्रेरणा किये जाने पर भी पुण्य में प्रवृत्त नहीं होता।

'महत्' क्रियाविशेषण होगा।

२६६. उद्यतासिः—उद्यतोऽसिर्येन। 'प्रहरणार्थेभ्यश्च परे निष्ठासप्तम्यौ भवत इति वक्तव्यम्' इस वचन से निष्ठान्त 'उद्यत' का परनिपात होने से 'अस्युद्यतः' ऐसा होना चाहिए। आहिताग्न्यादियों में पाठ करने से विकल्प से पर-निपात होगा। व्यूढकङ्कटः—संनद्धो वर्मितः सज्जो दंशितो व्यूढकङ्कटः—अमर।

२६७. संमुद्रितश्रवणाः—संमुद्रिते श्रवणे येषां ते। श्रवणे (कर्णौ), द्विवचन का प्रयोग अधिक व्यवहारानुकूल है।

२६८. तामसीवृद्धिः—तमस इयं = तामसी वृद्धिरस्य इति बहुव्रीहिः। 'वृद्धिनिमित्तस्य च तद्धितस्यारक्तविकारे' (६।३।३९) से पुंवद्भाव का निषेध होता है। रक्तविकार अर्थ में जो तद्धित विहित हुआ हो, चाहे उसमें वृद्धि का निमित्त (इत् ञ्, ण्, क्) पड़ा हो, ऐसे तद्धितान्त स्त्रीशब्द को पुंवद्भाव हो जायगा—कषायेण रक्ता काषायी बृहतिकाऽस्य इति काषाय-बृहतिकः। बृहतिका = चादर।

२६९. अभिरूपः सुकुमारः स कुमारो नारिंमन्य इत्यहो अस्य विभ्रमेण जितम् ।

२७०. इयं हि ब्राह्मणिब्रुवा । अस्या ब्राह्मणीत्वे मानं मृग्यम् ।

२७१. मर्माविधा इमा उक्तयः किमपि क्षिण्वन्ति हृदयं श्रोतॄणाम् ।

२७२. केचिच्छस्त्राशस्त्रि युध्यन्ते, परे मुष्टीमुष्टि इतरे बाहूबाहवि ।

२७३. पश्य, इदं स्त्रीसभं याति । बाढं पश्यामि स्त्रैणम् ।

२७४. काकोलूकस्य वैरं काकोलूकिकेत्युच्यते तद्धितवृत्त्या ।

२७५. पिपतिषतीदं गृहस्थूणं श्च्योतति च च्छदिः ।

---

२६९. नारिंमन्यः—नारीमात्मानं मन्यत इति । यहाँ खित्यनव्ययस्य (६।३।६६) से 'नारी' के 'ई' को ह्रस्व होता है । यहाँ 'आत्ममाने खश्च' (३।२।८३) से मन् धातु से खश् प्रत्यय होता है ।

२७०. ब्राह्मणिब्रुवा— ब्राह्मणीमात्मानं ब्रूत इति । 'ब्रुव' शब्द पचाद्यजन्त है । यहाँ ब्रू को वच् और गुण निपातन से नहीं होते । 'घरूपकल्पचेलड्ब्रुव—'(६।३।४३) से 'ब्राह्मणी' को ह्रस्व हुआ ।

२७१. मर्माविधः—मर्माणि विध्यन्तीति । 'नहिवृतिवृषि—' (६।३।११६) से पूर्वपद को दीर्घ होता है । क्षिण्वन्ति—रि क्षि चिरि इति दण्डकपठितः क्षिश्छान्दसः । इसका लोक में भी प्रयोग होता है—न तद्यशः शस्त्रभृतां क्षिणोति । (रघु २।४०) ।

२७२. शस्त्राशस्त्रि—यहाँ मुष्टीमुष्टि तथा बाहूबाहवि में 'तत्र तेनेदमिति सरूपे' (२।२।२७) से कर्मव्यतिहार द्योत्य होने पर बहुव्रीहि समास होता है । 'इच् कर्मव्यतिहारे' यह वचन 'तिष्ठद्गुप्रभृतीनि च' (२।१।१७) में

२६९. सुन्दर कोमल यह कुमार अपने को स्त्री समझता है। अहो कैसी भ्रान्ति।

२७०. यह अपने आप को ब्राह्मणी कहती है। इस के ब्राह्मणीत्व में प्रमाण अभी ढूँढ़ना है।

२७१. मर्मभेदी ये वचन श्रोताओं के हृदयों को बुरी तरह छलनी कर देते हैं।

२७२. कोई शस्त्रों से परस्पर प्रहार करते हुए लड़ते हैं दूसरे मुक्कों से और तीसरे बाहुओं से।

२७३. देखो, यह स्त्रियों का दल जा रहा है, हाँ मैं नारी-समूह को देख रहा हूँ।

२७४. कौओं और उल्लुओं के वैर को तद्धित प्रत्यय करके 'काकोलूकिका' कहते हैं।

२७५. घर का खम्भा गिरने वाला है और छत टपक रही है।

पढ़ा है। सो इच् प्रत्ययान्त की अव्ययीभाव और अव्यय संज्ञा हो जाती है। 'अन्येषामपि दृश्यते' (६।३।१३७) से यहाँ पूर्वपद को दीर्घ हुआ है। 'बाहूबाहवि' में 'ओर्गुणः' (६।४।१४६) से इच् परे होने पर 'बाहु' को गुण होता है।

२७३. स्त्रीसभम्—स्त्रीणां सभा (संघातः)। यहाँ 'सभा राजाऽमनुष्यपूर्वा' (२।४।२३) से समास नपुंसकलिङ्ग हो गया। स्त्रैणम्—स्त्रीणां समूहः। 'स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ—' (४।१।८७) से प्राग्दीव्यतीय अर्थों में अण् होता है। समूह भी प्राग्दीव्यतीय अर्थ है।

२७४. काकोलूकस्य—काकाश्च उलूकाश्च इति काकोलूकम्, तस्य। 'येषां च विरोधः शाश्वतिकः' (२।४।९) से यहाँ नित्य एकवद्भाव है। काकोलूकिका—काकोलूकस्य वैरम्। 'द्वन्द्वाद्वुन्वैरमैथुनिकयोः' (४।३।१२५) से वुन् प्रत्यय होता है। स्त्रीलिङ्ग में प्रयोग का, कारण केवल व्यवहार है।

२७५. गृहस्थूणम्—गृहस्य स्थूणा। 'गृहशशाभ्यां क्लीबे'—इस पाणिनीय लिङ्गानुशासन के वचन के अनुसार यहाँ गृह शब्द से परे समास के

२७६. स्वस्त्यस्तु ते पुत्रि ! सहभर्तृकायै । अलमिदानीं रुदितेन ।

२७७. अष्टागवेन शकटेन याति गोपो विभवो मे प्रथतामिति ।

२७८. इदं कामधुरं जलमिदं च कालवणम् । यतरत्ते रोचते तदादत्स्व ।

२७९. प्रतिकशप्रतिष्कशशब्दयोर्विशेषं ब्रूहि यदि वेत्थ ।

२८०. इदं तृचं सूक्तम्, इदं सप्तर्चम् ।

२८१. किमिदं मदर्थमन्यदर्थं वा । अन्यार्थमेवैतत् ।

२८२. इदं वृहत्तन्त्रम् इदं च कातन्त्रम् ।

२८३. निस्त्रिंशानि वर्षाणि चैत्रस्य मैत्रस्य तूपविंशानि ।

अन्त में स्थूण नपुंसकलिङ्ग का ही प्रयोग होता है। छदिस् पा० लिङ्गा० के अनुसार स्त्री० है, अमर के अनुसार नपुं० ।

२७६. सहभर्तृकायै---'प्रकृत्याऽऽशिषि' (६।३।८३) से यहाँ सह को 'स' नहीं होता, प्रकृतिभाव रहता है ।

२७७. अष्टागवेन---'गवि च युक्ते' इस वचन से 'अष्टन्' को 'आ' होता है । गोपः---स्थायुकोधिकृतो ग्रामे गोपो ग्रामेषु भूरिषु---अमर ।

२७८. कामधुरम्, कालवणम्---ईषदर्थे (६।३।१०५) से 'कु' के स्थान में 'का' होता है ।

२७९. प्रतिकशः---प्रतिगतः कशाम् । जो (घोड़ा) कशा की परवाह नहीं करता है । प्रतिष्कशः---'प्रतिष्कशश्च कशेः' (६।१।१५२) से प्रतिपूर्वक पचाद्यजन्त कश को सुट् का आगम और सुट् को षत्व निपातन किया गया है । प्रतिष्कश=आगे-आगे चलने वाला, अथवा सहायक । श्रीरामायण में

२७६. हे पुत्री, तेरा और तेरे भर्ता का कल्याण हो। अब रोना बन्द करो।

२७७. आठ बैलों से जुते हुए शकट के द्वारा अनेक ग्रामों का अधिकारी (जैलदार) जा रहा है ताकि उसका वैभव प्रसिद्ध हो।

२७८. यह जल कुछ मीठा है और यह कुछ खारी। जौन-सा तुझे अच्छा लगता है वही पी।

२७९. यदि तू जानता है तो कह 'प्रतिकश' और 'प्रतिष्कश' शब्दों में क्या भेद है?

२८०. यह तीन ऋचाओं का सूक्त है और यह सात का।

२८१. क्या यह मेरे लिये है या किसी और के लिये। यह किसी और के लिये है।

२८२. यह विस्तीर्ण शास्त्र है और यह संक्षिप्त।

२८३. चैत्र के अब ३० से अधिक वर्ष पूरे हुए हैं और मैत्र के लगभग बीस।

इस का ऐसे प्रयोग मिलता है—त्वं मे भव प्रतिष्कशः।

२८०. तृचम्—'ऋचि त्रेरुत्तरपदादिलोपश्छन्दसि' इस वार्तिक से 'त्रि' को सम्प्रसारण और उत्तरपद के आदि का लोप होता है। यह विधि छन्द (वेद) में ही है। लोक में 'त्र्यृचम्' ऐसा भी ठीक है। दोनों प्रयोगों में 'ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे' (५।४।७४) से 'अ' समासान्त होता है।

२८१. मदर्थम्—मह्यमिदम्। अर्थ शब्द के साथ नित्य (अस्वपदविग्रह) समास है। अन्यदर्थम्—अन्यस्मै इदम्। 'अर्थे विभाषा' (६।३।१००) से 'अर्थ' उत्तरपद होने पर 'अन्य' को विकल्प से दुक् का आगम होता है। अतः आगमाभाव पक्ष में 'अन्यार्थम्' भी शुद्ध रूप होगा।

२८२. कातन्त्रम्—ईषत् तन्त्रम्। 'ईषदर्थे' (६।३।१०५) से 'कु' को 'का' आदेश होता है।

२८३. निस्त्रिंशानि—निर्गतानि त्रिंशतः। यहाँ 'डच्प्रकरणे संख्याया-

२८४. व्यूढोरस्को वृषस्कन्ध उग्रम्पश्यः स राजन्यः कस्य भयं न जनयति ।
२८५. सुराजान इमे देशा यत्र राजहंसो राज्यं शास्ति ।

२८६. यः सखायं किंसखायं च विविङ्क्ते स सुखं भुङ्क्ते ।
२८७. एकार्थके इमे ऋक्सामे इति न न विदितमल्पश्रुतस्यापि ।

२८८. अयं किंगौः, अयं च सद्गवः, जरन्नपि यो वहत्यनोदितः ।

२८९. किमित्यवमूर्धा शेषे ? उत शिरोऽर्तिस्तेऽस्ति ?
२९०. अयं पथिप्रज्ञ इति प्रतिष्कशो नो भवितुमर्हति ।

स्तत्पुरुषस्योपसंख्यानं कर्तव्यं निस्त्रिंशाद्यर्थम्' इस वार्तिक से डच् समासान्त होता है। उपविंशानि—विंशतेः समीपे यानि वर्तन्ते, बहुव्रीहिः। 'संख्ययाऽव्ययासन्न—' (२।२।२५) से अव्यय 'उप' के साथ (संख्या) विंशति का समास होता है। 'बहुव्रीहौ संख्येये डजबहुगणात्' (५।४।७३) से डच् समासान्त होता है।

२८४. व्यूढोरस्कः—व्यूढं विशालम् उरो यस्य सः। उरः प्रभृतिभ्यः कप् (५।४।१५१) से कप् समासान्त होता है। उग्रम्पश्यः—उग्रं पश्यतीति। 'उग्रम्पश्येरम्मदपाणिन्धमाश्च' (३।२।३७) से निपातन किया गया है। राजन्यः—राज्ञोऽपत्यं पुमान्। 'राजश्वशुराद्यत्' (४।१।१३७) से यत्। 'ये चाभावकर्मणोः' (६।४।१३८) से प्रकृतिभाव होकर 'नस्तद्धिते' (३।४।१४४) से 'टि' का लोप न हुआ।

२८५. सुराजानः—शोभनो राजा एषां ते। 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' (५।४।९१) से तत्पुरुष समास में ही टच् समासान्त होता है। सो यहाँ बहुव्रीहि समास होने से न हुआ। सुराजा दशरथः—यहाँ तत्पुरुष समास में भी 'न पूजनात्' (५।४।६९) से समासान्त का निषेध हो जाता है।

२८४. विशाल छाती वाला, बैल के से कन्धों वाला, उग्रदृष्टि वाला वह क्षत्रिय किसे भयभीत नहीं करता ?

२८५. ये देश उत्तम नृपति से सुशोभित हैं जहाँ राजहंस राज्य कर रहा है।

२८६. जो अच्छे और बुरे साथी में भेद कर सकता है वह सुख पाता है।

२८७. यह ऋचा और यह साम एकार्थक हैं इसे थोड़ा पढ़ा हुआ भी जानता है।

२८८. यह क्या (=कुत्सित) बैल है और यह बढ़िया बैल है जो बिना हाँके खींचता है।

२८९. तू औंधे मुँह क्यों लेट रहा है ? क्या तुझे सिरपीड़ा है ?

२९०. यह रास्ता जानता है, अतः हमारा अगुआ बनने के योग्य है।

---

२८६. किंसखायम्—कुत्सितः सखा, तम्। किमः क्षेपे (५।४।७०) से समासान्त का निषेध हो गया।

२८७. ऋक्सामे—ऋक् च साम च। 'अचतुरविचतुरसुचतुर—' (५।४।७७) से अजन्त निपातन किया है।

२८८. किंगौः—'किं क्षेपे' (२।१।६४) से समास होता है और 'किमः क्षेपे' (५।४।७०) से 'गोरतद्धितलुकि' (५।४।९२) से जो समासान्त टच् प्राप्त था वह रुक गया। सद्गवः—संश्चासौ गौश्च। (कर्मधारय)। यहाँ टच् समासान्त होता है। जरन्—'जीर्यतेरतृन्' (३।२।१०४) से भूतकाल में अतृन् प्रत्यय होता है। जरन्=जीर्णः।

२८९. अवमूर्धा—अवनतो मूर्धाऽस्य। यहाँ किसी भी शास्त्र से समासान्त की प्राप्ति नहीं।

२९०. पथिप्रज्ञः—पन्थानं प्रजानाति इति। 'प्रे दाज्ञः' (३।२।६) से यहाँ क प्रत्यय होता है। 'प्रतिष्कशः' इस के लिए वाक्य-संख्या २७९ का टिप्पण देखो।

२९१. कल्याणी खलु पूर्वोत्थायिनो जघन्यसंवेशिनोऽस्यान्तेवासिनोऽहोरात्रचर्या।

२९२. अन्तर्लोमोऽयं पटः स्पर्शे मृदुः।

२९३. अद्यत्वे यश्चिरं जीवति स वर्षशतं जीवति। इदमेव च पुरुषायुषम् इत्यामनन्ति मुनयः।

२९४. नहि रात्रिन्दिवं प्रयस्यन्तः समे समं समृद्धमनोरथा भवन्ति।

२९५. सर्वाह्णं किमपि गृहकृत्यं सम्पादयन्ती सा परं निर्वृणोति।

२९६. इदानीमर्धरात्रो गत इति विरमामोऽध्ययनात्।

२९७. शुचौ शुष्यन्ति पल्वलानि कुसरितश्च।

२९८. महतीयमाजिर्न जाने कदाऽवसास्यति।

२९९. धनधान्यसमृद्धेऽस्मिन्नीवृति बह्व्यः प्रजा दुर्विधाः सन्तीति किमेतत्?

---

२९१. कल्याणी—'बह्वादिभ्यश्च' (४।१।४५) से विकल्प से ङीष् होता है। जघन्यसंवेशिनः—जघन्यं पश्चात् संवेष्टुं शीलमस्य, तस्य। जघन्य= पश्चात्। जघन्योऽन्तेऽधमेपि च—अमर। अहोरात्रचर्या—अहश्च रात्रिश्चेति अहोरात्रः। 'रात्राह्नाहाः पुंसि' (२।४।२९) से समाहारद्वन्द्व भी पुँल्लिङ्ग होता है। अहोरात्रे चर्या=अहोरात्रचर्या। 'चर्या'—यहाँ 'गदमदचर—' (३।१।१००) से यत् प्रत्यय भावकर्म में होता है। स्त्रीत्व लोकविवक्षा से।

२९२. अन्तर्लोमः—'अन्तर्बहिर्भ्यां च लोम्नः' (५।४।११७) से अप् समासान्त होता है।

२९३. पुरुषायुषम्—पुरुषस्यायुः। 'अचतुरविचतुरसुचतुर—' (५।४। ७७) से अच्प्रत्ययान्त निपातन किया है। आयुः=जीवनकालः।

२९४. रात्रिंदिवम्—रात्रौ च दिवा च। अचतुर—इत्यादि सूत्र से सप्तम्यर्थ में वर्तमान पदों का द्वन्द्व समास और अजन्तत्व निपातन किया है।

२९५. सर्वाह्णम्—सर्वं च तदहश्च। अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। यहाँ टच्

२९१. (गुरु से) पहले उठने वाले और पीछे सोने वाले इस शिष्य की दिनचर्या कल्याणी (मङ्गलमय) है।

२९२. इस वस्त्र के लोम अन्दर की ओर हैं, अतः स्पर्श में कोमल है।

२९३. आज कल जो चिर तक जीता है वह १०० वर्ष तक जीता है। इसे ही मुनि लोग 'पुरुषायुष' कहते हैं।

२९४. रात दिन परिश्रम करते हुए भी सभी लोग एक सी अभीष्ट सिद्धि को प्राप्त नहीं होते।

२९५. सारा दिन घर के काम धन्धे को करती हुई वह बहुत सुखी होती है।

२९६. अब आधी रात बीत गई है, अतः हम पढ़ाई बन्द करते हैं।

२९७. ग्रीष्म में जौहड़ तथा छोटी-छोटी नदियाँ सूख जाती हैं।

२९८. यह बड़ी लड़ाई कब समाप्त होगी, मुझे मालूम नहीं।

२९९. धनधान्य में बढ़े-चढ़े हुए इस देश में बहुत से लोग दरिद्र हैं, यह क्या बात है?

समासान्त परे होने पर 'अह्नोऽह्न एतेभ्यः' (५।४।८८) से 'अहन्' को 'अह्न' आदेश होता है।

२९६. अर्धरात्रः—अर्धं रात्रेः। एकदेशिसमासः। 'अहः सर्वैकदेश—' (५।४।८७) से अच् समासान्त होता है। 'रात्राह्नाहाः पुंसि' (२।४।२९) से रात्रान्त तत्पुरुष पुँल्लिङ्ग में ही प्रयुक्त होता है।

२९७. शुचौ—ज्येष्ठे आषाढे च, अतः शुचि शब्द 'ग्रीष्म' का पर्याय भी है।

२९८. आजिः—यह नित्य स्त्रीलिङ्ग है। अवसास्यति—षोऽन्तकर्मणि। उपसर्गवश धातु अकर्मक हो गई। अवपूर्वक अर्थान्तर में सकर्मक भी है—अर्थमवस्यति (=निश्चिनोति)।

२९९. नीवृति—नीवृत् पुं० है। 'नहिवृतिवृषि—' (६।३।११६) से क्विबन्त वृत् परे होने पर 'नि' (पूर्वपद) को दीर्घ होता है। नियतं वर्तते-ऽस्मिन्निति नीवृत्। नीवृज्जनपदो देशे—अमर।

३००. कियन्तो वितस्तयो वरिमाऽस्य पटस्य ।
३०१. नेदं सारम् । स्वयं रथेन यासि, उपाध्यायं च पदातिं गमयसि !
३०२. क्लिश्यतेऽसौ नाडीव्रणेन । नायमद्यापि संरोहति ।
३०३. अपीयं खे सम्पतन्ती बलाकपङ्क्तिर्दृष्टेस्ते गोचरः ?
३०४. अहो रमणीयान्यस्य बर्हिणस्य वर्हाणि । प्रत्युप्यत इवात्र दृष्टिः ।
३०५. नैत्यशब्दिका वैयाकरणाः कार्यशब्दिकाश्च नैयायिकाः । इतरत्रापि भिद्यन्ते कृतान्ता विमर्शकानाम् ।
३०६. नाको मे स्यान्नरको मे मा भूदिति सर्वस्य हृदि स्थितः कामः ।
३०७. यो हि मित्राणि वा बन्धून्वा नित्यं याचते स वहुतृणं नरः ।
३०८. इयं कुतूस्त्रिंशतं प्रस्थांस्तैलं संभवति, अयं कुतुपस्तु पञ्चदश ।

---

३००. वितस्तयः—वितस्ति पुं० है । यथा अमर में पाठ है—अङ्गुष्ठे सकनिष्ठे स्याद् वितस्तिर्द्वादशाङ्गुलः । वरिमा—'उरु' से भाव में इमनिच् प्रत्यय हुआ है । इमनिच् प्रत्ययान्त नियम से पुं० होते हैं ।

३०१. सारम्—न्यायः । सारो बले स्थिरांशे च न्याय्ये क्लीबं वरे त्रिषु—अमर ।

३०२. नाडीव्रणेन—नाड्यां व्रणः, तेन । अयम्—नाडीव्रण केवल पुं० में प्रयुक्त होता है, यद्यपि 'व्रण' पुं० और नपुं० है । इसमें 'नाड्यपजनोपपदानि व्रणाङ्गपदानि'—यह पा० लिङ्गानुशासन प्रमाण है । नाडीव्रणः । अपाङ्गः । जनपदः ।

३०४. वर्हिणस्य—वर्हिन् और वर्हिण—दो शब्द हैं । 'फलबर्हाभ्यामिनच्' (वार्तिक) से इनच् मत्वर्थ में होता है । वर्ह शब्द नपुं० है—पिच्छवर्हे नपुंसके—अमर । प्रत्युप्यते—वप् धातु और प्रति उपसर्ग है ।

३००. इस कपड़े की चौड़ाई कितने बालिश्त है ?

३०१. यह न्याय्य नहीं, स्वयं तो रथ पर चढ़ कर जाता है और गुरु जी को पैदल चला रहा है !

३०२. वह नाडीव्रण से पीडित है, यह अब भी अच्छा नहीं हो रहा ।

३०३. क्या आकाश में चलती हुई यह बगुलों की पंक्ति तुम्हें दीख रही है ?

३०४. इस मोर के पंख कितने सुन्दर हैं ! इन में दृष्टि गड़ सी गई है ।

३०५. वैयाकरण शब्द को नित्य मानते हैं, नैयायिक कार्य । अन्यत्र भी विचारकों के सिद्धान्त भिन्न-भिन्न होते हैं ।

३०६. मुझे स्वर्ग प्राप्त हो, नरक मत प्राप्त हो, ऐसी इच्छा हर किसी के हृदय में विद्यमान है ।

३०७. जो अपने मित्रों तथा बन्धुओं से बार-बार माँगता रहता है, वह तिनके के समान है ।

३०८. इस कुप्पे में ३० सेर तैल समाता है, और इस कुप्पी में (केवल) पन्द्रह सेर ।

कर्मणि लट् । प्रतिवाप = अंगूठी आदि में हीरे आदि का जड़ना ।

३०५. नैत्यशब्दिकः—नित्यः शब्द इत्याह । 'ठक् प्रकरणे तदाहेति माशब्दादिभ्य उपसंख्यानम्' इस वार्तिक से यहाँ ठक् प्रत्यय होता है । ऐसे ही 'कार्यशब्दिकः' में जानो । कृतान्तः=सिद्धान्तः । कृतान्तो यमसिद्धान्त-दैवाकुशलकर्मसु—अमर ।

३०७. बहुतृणम्—ईषदसमाप्तं तृणम् । 'विभाषा सुपो बहुच् पुरस्तात्तु' (५।३।६८) से विकल्प से कल्पप् आदि प्रत्ययों के अर्थ में सुबन्त से पूर्व 'बहुच्' प्रत्यय होता है । 'स्यादीषदसमाप्तौ तु बहुच् प्रकृतिलिङ्गके' इस वचन के अनुसार प्रकृति का लिङ्ग होने से विशेष्य के पुमान् होने पर भी 'बहुतृण' नपुं० में ही प्रयुक्त हुआ ।

३०८. कुतुपः—ह्रस्वा कुतूः । 'कुत्वा डुपच् (५।३।८९) से ह्रस्व अर्थ

३०९. रौद्रं चतुष्पथमित्यृषय आमनन्ति। तथाम्नाने च न दुष्करो हेतुरुन्नेतुम्।

३१०. दैव्या अस्या वाचश्चरमामवनतेः सीमानमालोक्य परं दुःख्यन्ति सहृदयाः।

३११. वश्यवाचः श्रीवाचस्पतिमिश्रा दर्शनेषु वैदुष्यनिकषभूतानि दार्शनिकहृदयहारीणि व्याख्यानानि वितेनिरे।

३१२. अयं सुपन्थाः, अयं चापन्थाः, येनेष्टं तेन गम्यताम्।

३१३. विशालमस्य भालं व्यूढं चोरः, प्रलम्बौ च बाहू इति भाग्यवानयं भाति।

३१४. किं जानास्यायुर्वेदं यन्मेदोमज्ज्ञोर्विशेषं न वेत्थ ?

में डुपच् प्रत्यय होता है। त्रिंशतं प्रस्थाँस्तैलम्—प्रस्थ परिमाणवाची है, तैल परिमेयवाची है, परिमाण-परिमेय का अभेदोपचार से सामानाधिकरण्य है, सो दोनों से द्वितीया हुई।

३०९. चतुष्पथम्—चतुर्णां पथां समाहारः, चत्वारः पन्थानः समाहृता इति वा।

३१०. सीमन्—नित्य ही स्त्रीलिङ्ग है नकारान्त भी और आकारान्त भी। दुःख्यन्ति—सुख दुःख तत्क्रियायाम् कण्ड्वादि धातुएँ पढ़ी हैं। सो कण्ड्वादिभ्यो यक् (३।१।२७) से यक् होता है। 'सनाद्यन्ता धातवः' (३।१।३२) से धातु संज्ञा होकर 'कर्तरि शप्' (३।१।६८) से शप् होता है। दुःख्यन्ति = दुःखमनुभवन्ति।

३११. श्रीवाचस्पतिमिश्राः—मिश्र शब्द पूजावाचक है। पूज्या वाचस्पतय इति वाचस्पतिमिश्राः। नित्यसमासः। श्रिया युक्ता (उपलक्षिता वा) वाचस्पतिमिश्राः = श्रीवाचस्पतिमिश्राः। मध्यमपदलोपी समासः।

३०९. चौराहा रौद्र (अतिभयानक) होता है ऐसा ऋषि कहते हैं। ऐसे कथन में कारण समझना कठिन नहीं।

३१०. इस दैवी वाणी (संस्कृत) के ह्रास की पराकाष्ठा को देख सहृदय लोग अत्यन्त दुःखी होते हैं।

३११. वाणी पर अधिकार रखने वाले पूज्य श्रीवाचस्पति मिश्र ने पाण्डित्य की परीक्षा करने वाले दार्शनिकों के हृदय हरण करने वाले दर्शनों पर व्याख्यान रचे।

३१२. यह सुन्दर मार्ग है, यह कुमार्ग है, जिस से जाना चाहते हो, जाइये।

३१३. इस का मस्तक विशाल है, छाती चौड़ी है, बाँहें लम्बी हैं, इस से यह भाग्यवान् प्रतीत होता है।

३१४. तू आयुर्वेद क्या जानता है जो मेदस् (चर्बी) और मज्जा में भेद नहीं जानता।

वैदुष्यनिकषभूतानि—वैदुष्यस्य निकषा इति वैदुष्यनिकषाः। त इव इति वैदुष्य०। नित्यसमासः। 'भूत' शब्द उपमानवाची है जैसे 'सुहृद्भूत आचार्यः' इत्यादि में।

३१२. सुपन्थाः—शोभनः पन्थाः। 'यहाँ 'न पूजनात्' (५।४।६९) से समासान्त का निषेध होगया। अपन्थाः—कुत्सितः पन्थाः। कुत्सा अर्थ में नञ्। 'नञस्तत्पुरुषात्' (५।४।७१) से समासान्त का अत्यन्त निषेध प्राप्त था, पर 'पथो विभाषा' (५।४।७२) से विकल्प से निषेध होता है। पक्ष में समासान्त होने पर 'अपथं नपुंसकम्' (२।४।३०) से 'अपथ' शब्द नपुंसकलिङ्ग होता है, पुँल्लिङ्ग नहीं।

३१३. व्यूढं चोरः (=च उरः)—व्यूढ शब्द विपूर्वक वह् का निष्ठान्त रूप है, व्यूढ का मुख्यार्थ 'क्रमविशेष में स्थापित' है। सेना आदि के विशेषण के रूप में इसका प्रयोग देखा जाता है। विशाल अर्थ में औपमिक प्रयोग है। व्यूढमिव व्यूढम्।

३१४. किं जानासि—यहाँ किम् शब्द कुत्सा अर्थ में है। किं पृच्छायां जुगुप्सने—अमर। यहाँ 'किम्' का जानासि' के साथ समास नहीं, लोक

३१५. अद्य पूर्णिमा । अहो अभिव्यक्ता चन्द्रिका तरुच्छिद्रप्रोता किमपि रमयति मनः ।

३१६. यो हि सीता रामं परिणिनायेत्याह न स परिणयशब्दार्थमञ्जसा वेद ।

३१७. सर्वेषु जीवेष्वात्मार्थं मा न भूम भूयास्मेत्याशीरवस्थिता। तामिमामभिनिवेशमाचक्षते शास्त्रकाराः ।

३१८. प्रवृत्ता वर्षा इति स्थगितमम्बुदैरम्बरम् ।

३१९. वत्स ! कथय किं तवायुः । अङ्ग नाहं ज्यौतिषिकः ।

३२०. अहो सुन्दरी प्रकृतिः । सुवासिनी वधूरिव प्रियङ्करैषा ।

में तिङन्त के साथ समास नहीं होता। समस्त समासविधायकशास्त्र में (सुप्) 'सह सुपा' (२।१।४) यह अधिकार उपस्थित होता है। किं शब्द का कुत्सा (क्षेप, निन्दा) अर्थ में तिङन्त के साथ इस प्रकार प्रयोग होता है। इसमें 'किं क्रियाप्रश्ने—' (८।१।४४) की वृत्ति में दिया हुआ 'किमधीते देवदत्तः' यह प्रत्युदाहरण प्रमाण है।

३१५. चन्द्रिका—चन्द्रोऽस्त्यस्यामिति। अत इनिठनौ (५।२।११५) से मत्वर्थ में ठन् हुआ। लोकाश्रय स्त्रीत्व में टाप्।

३१६. सीता रामं परिणिनाय—ऐसा नहीं कह सकते कारण कि परिणयन कर्म में पुरुष (वर) की कर्तृता होती है और स्त्री (वधू) की कर्मता। परि—नी का अर्थ वेदि (=वेदिस्थ अग्नि) के चारों ओर ले जाना है, वह विवाह क्रिया का मुख्य अङ्ग है। स्त्री परिणीता भवति, पुरुषश्च परिणेता।

३१७. अभिनिवेशम्—इस का अक्षरार्थ (हृदय में) बैठा हुआ भाव, अत एव इस का अर्थ 'हठ' हो जाता है।

३१५. आज पूर्णिमा है। आश्चर्य है शुभ्र ज्योत्स्ना तरुछिद्रों में से आती हुई मन को क्या ही लुभा रही है।

३१६. जो सीता ने राम के साथ परिणय किया ऐसा कहता है वह 'परिणय' के अर्थ को ठीक ठीक नहीं जानता।

३१७. सभी जीवों में अपने लिये यह इच्छा अवस्थित है—ऐसा न हो कि हम (कभी) न रहें किन्तु (नित्य बने) रहें। इसे शास्त्रकार 'अभिनिवेश' कहते हैं।

३१८. बरसात का प्रारम्भ हो गया है अतः आकाश मेघों से आच्छादित है।

३१९. हे बच्चे! कहो तुम्हारी आयु कितनी है? आर्य, मैं ज्योतिषी नहीं हूँ।

३२०. यह प्रकृति (=प्रकृतिजन्य संसार) कितनी सुन्दर है। ऋतुस्नात वस्त्रालंकार-विभूषित वधू की तरह प्यारी लगती है।

---

३१८. वर्षाः—बरसात अर्थ में यह शब्द नित्य स्त्रीलिङ्ग और बहुवचनान्त प्रयुक्त होता है। स्थगितम्—स्थग आच्छादने। यह धातुपाठ में नहीं पढी गई। 'वर्धते धातुगणः' इस कथन के अनुसार नई लौकिक धातु की कल्पना की जाती है।

३१९. इस वाक्य में प्रष्टा (पूछने वाला) 'आयुः' शब्द का अस्थान में प्रयोग कर रहा है। 'आयुः' का अर्थ जीवनकाल है। अब बचा कैसे जाने कि मैंने इस लोक में कब तक जीना है। सो वह ठीक ही उत्तर देता है—आर्य मैं ज्योतिषी नहीं हूँ, ज्योतिषी होता, तो बता सकता। अङ्ग—अव्यय है। यह यहाँ सम्बोधनार्थक है।

३२०. सुवासिनी—शोभनाच्छादना, कृतरम्याकल्पा। यहाँ सुवासिनी=सुवासाः जो 'मलवद्वासाः' का प्रतियोगी है। अन्यत्र सुवासिनी=चिरण्टी। प्रियङ्करा—प्रियं करोतीति। 'क्षेमप्रियमद्रेऽण् च' (३।२।४४) से खच् प्रत्यय होता है, ततः स्त्रीत्व में टाप्।

३२१. आतुर्यमायतिरसंयतेरिति वैद्याः ।

३२२. न जातु कृतानि पापानि कर्तुर्मूलानि न कर्त्स्यन्ति ।

३२३. बहुरस्य परिजनोऽमितश्च परिच्छद इत्यराजाऽपि राजमात्रोऽसौ ।

३२४. गुरुर्हि कुमारं यज्ञसूत्रेणोपव्याय ब्रह्मणः समीपं नयतीति केचिदुपनयनार्थं वर्णयन्ति । तदसाम्प्रदायिकम् ।

३२५. पटुपटुरपि समुद्युक्तोपि विघ्नैः कैरपि व्याहतो नेष्टेऽसौ विद्याव्रते कालेन परिसमापयितुम् ।

३२६. नाधर्मे मनः कुर्यान्मृत्युरपि चेदुपनमेत् ।

३२७. एकशतमध्वर्युशाखा न तु शतम् । यो हि शतमित्यर्थे एकशतमिति प्रयुङ्क्ते स न वेद समासार्थम् ।

३२८. अहो परिजनस्य प्रमादः । देवीं देवताद्वितीयां विजने परित्यजति ।

---

३२१. आतुर्यम्—आतुरस्य भावः । ष्यञ् । आयतिः—प्रभावः । स्यात्प्रभावे चायतिः (अमर) । प्रभावः=प्रभावजन्योर्थः । कार्ये कारणोपचारः, अर्थात् कार्य-वाचक शब्द के विषय में कारण-वाचक शब्द का गौण प्रयोग ।

३२२. कर्त्स्यन्ति—कर्तिष्यन्ति । कृती च्छेदने, तुदादिः ।

३२३. राजमात्रः—राज्ञो मात्रा=राजमात्रा । राजमात्रेव मात्रा यस्य सः । 'मात्रा' शब्द का अर्थ यहाँ परिच्छद है ।

३२४. उपव्याय—यहाँ 'व्यश्च' (६।१।४३) से सम्प्रसारण का निषेध हो गया, जो 'ग्रहिज्या—' (६।१।१६) से प्राप्त था । क्त्वा के स्थान

३२१. रोग असंयम का फल है ऐसा वैद्यों का मत है।
३२२. ऐसा नहीं कि किये हुए पाप कर्ता की जड़ों को कभी न काटेंगे।
३२३. इस के अनेक नौकर हैं, साधन सामग्री भी अपरिमित है, सो यह राजा न होता हुआ भी राजसी ठाठ रखता है।
३२४. गुरु बालक को यज्ञसूत्र से ढाँप कर ब्रह्म के समीप ले जाता है, ऐसा कोई उपनयन शब्द का अर्थ बताते हैं। यह सम्प्रदाय (=गुरुशिष्यपरम्परोपदेश) के विरुद्ध है।
३२५. वह अच्छा खासा चतुर है, उद्योगी भी है पर कई एक विघ्न बाधाओं के कारण समय पर अपनी विद्या और व्रत को समाप्त करने में असमर्थ है।
३२६. अधर्म करने का विचार (कभी भी) मन में न लाये, चाहे मृत्यु भी आ जाय।
३२७. यजुर्वेद की १०१ शाखायें हैं, १०० नहीं। जो 'शत' के अर्थ में 'एकशत' का प्रयोग करता है वह समासार्थ नहीं जानता।
३२८. नौकरों का कितना प्रमाद! रानी को अकेली एकान्त में छोड़ दिया।

में ल्यप् स्थानिवद्भाव से कित् होता है।

३२५. पटुपटुः—'प्रकारे गुणवचनस्य' (२।१।१२) से 'पटु' की द्विरुक्ति होती है। प्रकार = सादृश्य। पटुपटुः = अपरिपूर्णपाटवः।

३२६. उपनमेत्—संनिधिं प्राप्नुयात्, समीप आ जाय, प्राप्त हो जाय।

३२७. एकशतम्—एकाधिकं शतम्। मध्यमपदलोपी समास है।

२२८. देवताद्वितीयाम्—देवतया द्वितीया, देवता (इष्टदेव) करके दूसरी। देवता के अदृश्य होने से अर्थ हुआ 'अकेली'। इसी प्रकार इस अर्थ में आत्मना द्वितीया, छायाद्वितीया आदि शब्दों का भी प्रयोग होता है।

३२९. वाताहता दीपार्चिर्निर्वास्यति, तेन दीयन्तां द्वाराणि।

३३०. लोकस्य विदितोऽसौ पारिपन्थिकः पञ्चदश संवत्सरां-श्चारके संयतोऽभूत्।

३३१. विद्वांसो हि प्रकृत्यैव स्निग्धया दयितयेवाऽकिञ्चनतया सोत्कण्ठं कण्ठे गृहीता भवन्ति।

३३२. शास्त्राण्यधीयानानां युञ्जानानां च न वह्वन्तरमस्ति। उभये हि कार्यतात्पर्येण दुष्करं कुर्वन्ति।

३३३. यया शिक्षाभासया शिक्षया शिक्षितम्मन्यो जनो दिनस्य द्विर्भोक्तुमपि न लभते सा नार्हति समादरम्।

३३४. यस्माद् हिन्दवो दुराचारान्निष्क्रियान्सापदेशान्साधुव्यप-देशान् महयन्ति तस्मादवसीदन्ति।

३३५. इदं चाध्यापकैरध्यायकैश्च समं स्मरणीयमुभयालङ्कारो बोधोपजन इति।

---

३२९. दीपार्चिः—अर्चिः, स्त्री और नपुं० दोनों ही है। निर्वास्यति—निर् पूर्वक 'वा गतिगन्धनयोः' का लृट् में रूप है।

३३०. पारिपन्थिकः—'परिपन्थं न तिष्ठति' (४।४।३६) से पन्थानं व्याप्य (वर्जयित्वा वा) तिष्ठति। ठक्। चारके—बन्धनालये। चारक पुं० है।

३३१. अकिञ्चनतया—नास्ति किञ्चन यस्य सोऽकिञ्चनः, मयूरव्यंसकादि-समास। तस्य भावः = अकिञ्चनता, तया।

३३२. कार्यतात्पर्येण—तत्परस्य भावः = तात्पर्यम्। कार्ये तात्पर्यम् = आसक्तिः।

३३३. शिक्षाभासा शिक्षा—शिक्षावद् आभासते, जिसमें शिक्षा की

३२९. वायु से टकराकर दीये की लौ बुझ जायगी, इसलिये कपाट बन्द कर दो।

३३०. वह प्रसिद्ध लुटेरा १५ वर्षों के लिये जेल में बन्द कर दिया गया।

३३१. स्वभाव से स्नेहवती प्रिया की तरह दरिद्रता विद्वानों के गले उत्सुकता से लगी रहती है।

३३२. शास्त्रपाठी और योगाभ्यासी लोगों में कोई बड़ा अन्तर नहीं। दोनों ही कार्यासक्तिवश असाध्य की साधना करते हैं।

३३३. जिस मिथ्या शिक्षा से अपने को शिक्षित मानने वाला पुरुष दिन में दो बार भोजन नहीं प्राप्त कर सकता, उसका आदर नहीं होना चाहिये।

३३४. चूँकि हिन्दु लोग दुराचारी, निकम्मे, व्याजशील (बहाना बनाने वाले), साधुसंज्ञा वालों को पूजते हैं इसलिये दुर्गति को प्राप्त हो रहे हैं।

३३५. यह बात (दोनों) अध्यापक और छात्रों को स्मरण रखनी चाहिये कि ज्ञानवृद्धि दोनों का अलङ्कार है।

झलक है। अतः जो मिथ्या है। जैसे शुक्ति में रजत की झलक है, शुक्ति रजत नहीं। दिनस्य द्विः—यहाँ 'द्विः शब्द सुच्-प्रत्ययान्त है। 'द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्' (५।४।१८) से क्रियाऽऽवृत्ति गणना में 'सुच्, होता है। यह 'कृत्वसुच्' के अर्थ में ही हुआ है, अतः 'कृत्वोर्थप्रयोगे कालेऽधिकरणे (२।३।६४) से शैषिकी षष्ठी होती है। अधिकरणविवक्षा में सप्तमी भी हो सकती है।

३३४. दुराचारान्—दुष्ट आचार एषां ते, तान्। बहुव्रीहि। महयन्ति—मह पूजायाम्। चुरादि अदन्त।

३३५. अध्यायकैः—अध्येतृभिः। ण्वुल्। बोधोपजनः—बोधवृद्धिः। उपजनः = आगमः। यह भाव में घञन्त है। 'जनिवध्योश्च' (७।३।३५) से वृद्धि का निषेध हो जाता है।

३३६. एवमाचरतो मे लोमापि नामीयत। आर्जवं हि मे रक्षितृ समजायत।

३३७. नित्यं तिग्मानि तपांसि तप्यमान एव यतिरिदानीं त्वगस्थिभूतः।

३३८. कदाचिद्वर्षास्वपि न वर्षति वारिवाहः। सोऽवग्रहो भवत्यवग्राहो वा ?

३३९. नाट्यप्रेक्षणेन मनोविनोदव्यतिरिक्तो न कश्चिदर्थ इति केचित्। तदापातरमणीयम्।

३४०. सा कोपनेति मतविसंवादं मनागपि नासहिष्ट।

३४१. जितकाशिनो रामस्य लङ्कातोऽयोध्यां प्रति प्रस्थाने ननन्दुर्वानरसैन्यानि।

३४२. नहि धिषणधिषणोऽप्येतावताऽल्पीयसाऽनेहसा शक्नो दुरूहाणि शास्त्ररहस्यानि यथातथं ग्रहीतुम्।

३४३. वल्गाः संनियम्य मन्दीकुरु रथवेगम् वन्धुरायामस्यां धरायाम्।

३४४. कैवल्यप्राप्तिरीश्वरेच्छायत्ता, न पुरुषयत्नतन्त्रेति भक्ताः।

---

३३६. अमीयत—मीङ् हिंसायाम्, दिवादिः। यह अकर्मक है।

३३७. तपांसि तप्यमानः—'तपस्तपःकर्मकस्यैव' (३।१।८८) से 'तपः' कर्म होने पर तप् धातु का कर्ता कर्मवत् होता है। यहाँ तप् का अर्थ अर्जन है, तपना नहीं। कर्मवद्भाव होने से कर्माश्रय कार्य—तङ् और शानच् होते हैं। त्वगस्थिभूतः—त्वक् चास्थीनि च = त्वगस्थि। अत्वगस्थि त्वगस्थि सम्पन्न इति त्वगस्थिभूतः। 'श्रेण्यादयः कृतादिभिः' (२।१।५९) से च्व्यर्थ में समानाधिकरण समास होता है।

३३८. अवग्रहः, अवग्राहः—'अवे ग्रहो वर्षप्रतिबन्धे' (३।३।५१) से अप् और घञ् होते हैं।

३३६. इस प्रकार आचरण करते हुए मेरा बाल भी बाँका नहीं हुआ। सरलता मेरी रक्षक बनी।

३३७. नित्य तीव्र तपस्या करता हुआ यह यति अब त्वचा और अस्थि-मात्र रह गया है।

३३८. कभी-कभी बरसात में मेंह नहीं बरसता, उसे 'अवग्रह' कहते हैं अथवा 'अवग्राह'।

३३९. ड्रामा देखने मे मनोविनोद के अतिरिक्त कुछ लाभ नहीं ऐसा कोई कहते हैं। यह ऊपर की दृष्टि से ही निर्दोष प्रतीत होता है।

३४०. वह चिड़चिड़े मिज़ाज की है, अतः विचारभेद तनिक भी न सह सकी।

३४१. प्राप्त-विजय भगवान् राम के लङ्का से अयोध्या की ओर प्रस्थान करने पर वानर सेनायें प्रसन्न हुईं।

३४२. बृहस्पति की सी बुद्धि वाला भी कोई इतने थोड़े काल में दुरूह शास्त्रभेदों को जानने में समर्थ नहीं है।

३४३. बागों को थाम कर रथ के वेग को मन्द करो, यह भूमि ऊँची नीची है।

३४४. मोक्ष भगवान् की इच्छा के अधीन है, पुरुष-यत्न के अधीन नहीं, ऐसा भक्त कहते हैं।

---

३३९. आपातरमणीयम्—आपाते दृक्पाते रमणीयम् अनवद्यम्।

३४०. कोपना—'क्रुधमण्डार्थेभ्यश्च' (३।२।१५१) से कुप् से युच् प्रत्यय होता है।

३४१. जितकाशिनः—जितेन जयेन काशते दीप्यते राजते इति जितकाशी, तस्य। जितकाशी जिताहवः—अमर।

३४२. धिषणधिषणः—धिषणस्य बृहस्पतेः, धिषणा प्रज्ञा सेव धिषणा यस्य सः। यथातथम्—तथा सत्यमनतिक्रम्य। अव्ययीभाव।

३४३. बन्धुरायाम्—उन्नतानतायाम्। बन्धुरं तून्नतानतम् इत्यमरः।

३४४. कैवल्यप्राप्तिः—केवलस्य भावः कैवल्यम्। केवलः प्रकृतेस्तद्-

३४५. पैरैराक्रान्ताः परं भीतास्ते मातरिपुरुषाः कान्दिशीका बभूवुः ।

३४६. तं नेतारमुपस्थिता भूयांसो जनाः कर्मठाः कर्माश्चर्याणि चक्रिरे ।

३४७. ग्लास्नुर्हि प्रायेण परिग्लायति मधुरायाभ्यवहाराय ।

३४८. इदमभ्युपेयं भवति न खलु दैवानुग्रहादृते सिध्यन्ति कर्माणि यत्नारब्धान्यपीति ।

३४९. अयं श्रुतपूर्वी भारतम्, तेनास्य विदिता वृत्तान्ताः कुरुपाण्डवानाम् ।

३५०. भीतो बालः क मेऽम्बेति पृच्छत्यन्तिकादतिक्रामन्तमागन्तुकम् ।

गुणेभ्यश्च विविक्तः । प्रकृति के साथ जो एकता का भाव है, वह अविद्या है, उस से जो जुदा हो गया है वह 'केवल' है। उसकी उस अवस्था को 'कैवल्य' कहते हैं। पुरुषयत्नतन्त्रा—पुरुषयत्नः तन्त्रं प्रधानं यत्र सा ।

३४५. मातरिपुरुषाः—'पात्रेसमितादयश्च' (२।१।४८) सूत्र से यहाँ क्षेप (=कुत्सा, निन्दा) अर्थ में तत्पुरुष समास निपातन किया है। कान्दिशीकाः—कान्दिशीको भयद्रुतः—अमर। कान्दिशीक=जो भय से भाग जाय। कां दिशं व्रजामीति व्याकुलः, पृषोदरादि।

३४६. कर्मठाः—कर्मशूराः। 'कर्मणि घटोऽठच्' (५।२।३५)। कर्मणि घटत इति कर्मठः।

३४७. ग्लास्नुः—रोग से क्षीण। 'ग्लाजिस्थश्च ग्स्नुः' (३।२।१३९) से ग्लै से 'ग्स्नु' प्रत्यय होता है। मधुरायाभ्यवहाराय—यहाँ 'ग्लै' धातु के प्रयोग में चतुर्थी हुई है। इस में 'पर्यादयो ग्लानाद्यर्थे चतुर्थ्या' यह वार्तिक ज्ञापक है।

३४८. अभ्युपेयम्—यह इण् गतौ का कृत्य प्रत्यय परे होने पर रूप नहीं। भ्वादिगण में 'इट किट कटी गतौ' ऐसा पाठ है। यहाँ अन्त की धातु

३४५. शत्रुओं से आक्रान्त हुए वे कायर (माँ के सामने वीर) भयभीत हो भाग गये।

३४६. उस नेता की शरण में आये हुए बहुत से कर्मवीर पुरुषों ने अद्भुत कर्तब दिखाये।

३४७. रोग से क्षीण हुआ-हुआ पुरुष प्रायः मधुर भोजन से ऊब जाता है।

३४८. यह स्वीकार करना पड़ता है कि दैव की कृपा के बिना यत्न से आरम्भ किये हुए कार्य भी सिद्ध नहीं होते।

३४९. यह पहले महाभारत को सुन चुका है, अतः इसे कौरवों और पाण्डवों के वृत्तान्त विदित हैं।

३५०. डरा हुआ बालक मेरी माँ कहाँ है—यह पास से निकलते हुए आगन्तुक से पूछता है।

में 'इ' और 'ई' का आचार्य प्रश्लेष मानते हैं। सो 'इ' धातु को स्वीकार करके 'अचो यत्' (३।१।९७) से यत् करने पर इष्ट रूप सिद्धि होगी।

३४९. श्रुतपूर्वी—यहाँ 'सपूर्वाच्च' (५।२।८७) से 'श्रुतपूर्व' शब्द से इनि तद्धित होता है। श्रुतं पूर्वमनेनेति श्रुतपूर्वी। स्पष्ट ही यहाँ तद्धित प्रत्यय से कर्ता उक्त है और कर्म अनुक्त है अतः 'भारत' से द्वितीया हुई। कृत् प्रत्यय न होने से 'कर्तृकर्मणोः कृति' (२।३।६५) से कर्म में षष्ठी की प्राप्ति ही नहीं। अस्य—यहाँ 'विदित' में 'मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च' (३।२।१८८) से क्त वर्तमान में है और 'क्तस्य च वर्तमाने' (२।३।६७) से (अस्य) यहाँ 'इदम्' से षष्ठी हुई।

३५०. अन्तिकात्—यहा 'दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च' (२।३।३५) से पञ्चमी हुई। इस सूत्र में जो द्वितीया, तृतीया और पञ्चमी का विधान है वह सब प्रातिपदिकार्थ में समझना चाहिये। प्रातिपदिकार्थ=सत्ता, शब्द के उच्चारण होते ही जो उस का अर्थ उपस्थित होता है। अर्थात् अन्तिकम्, अन्तिकेन, अन्तिकात्, एवं दूरम्, दूरेण, दूरात् इत्यादि पदों में विभक्त्यर्थ कुछ भी नहीं।

३५१. अवकरस्यावस्करस्य च विशेषं चेद्वेत्थ शब्दविदसि नूनम् ।

३५२. ज्ञानलवदुर्विदग्धाः शिष्या ज्ञाननिधीन् गुरूनपि नाद्रियन्त इति कलेर्विलसितम् ।

३५३. इह प्रबन्धे विचायं विचायमपि दोषलेशमपि न विभावयामः ।

३५४. संस्कृतज्ञमानिनोऽस्य ब्राह्मणब्रुवस्याखर्वो गर्वः कथं युज्यते ?

३५५. ये नाम स्त्रैणमुपजीवन्ति ते यदि जीवन्ति, के मृताः ।

३५६. चिरविश्लिष्टयोस्तयोरुपश्लेषे प्रावृतत्प्रेमाश्रुवर्षं विलोचनाभ्याम् ।

३५७. अद्यत्वे शङ्काक्रान्तं जगत् । सबलानि दुर्बलानि वा राष्ट्राणि स्वं निरायतिकं मन्यन्ते ।

३५८. देवदत्तो वाचालः, प्रियव्रतोऽपि वाचाटः । हीयत एतयोर्लोके समादरः ।

---

३५१. अवकरः—संकर, कूड़ा । 'ॠदोरप्' (३।३।५७) से अप् प्रत्यय । अवस्करः—पुरीष, मल । प्रत्यय यहाँ भी अप् ही है । पर 'वर्चस्केऽवस्करः' (६।१।१४८) से सुट् का निपातन किया है । 'उच्चारावस्करौ शमलं शकृत् । पुरीषं गूथं वर्चस्कम्'—अमर ।

३५३. विचायं विचायम्—वि पूर्वक चिञ् चयने का णमुलन्त रूप । यहाँ 'आभीक्ष्ण्ये णमुल् च' से णमुल् हुआ । 'नित्यवीप्सयोः' (८।१।४) से द्विर्वचन हुआ ।

३५४. संस्कृतज्ञमानिनः—संस्कृतज्ञम् आत्मानं मन्यत इति संस्कृतज्ञमानी' तस्य । यहाँ 'आत्ममाने खश्च' (३।२।८३) से णिनि प्रत्यय हुआ । 'ख' प्रत्यय होने पर 'संस्कृतज्ञंमन्यः' ऐसा रूप भी होगा ।

३५१. यदि तू अवकर और अवस्कर में भेद जानता है तो निश्चय ही तू शब्दवित् है ।

३५२. विद्याकण की प्राप्ति से व्यर्थ में गर्वित शिष्य ज्ञाननिधिरूप गुरुओं का भी आदर नहीं करते, यह कलिकाल का प्रभाव है ।

३५३. इस ग्रन्थ में बहुत ढूँढ़ करने पर भी लेशमात्र भी दोष हम नहीं देखते ।

३५४. अपने आप को संस्कृतज्ञ मानने वाले और अपने को ब्राह्मण बतलाने वाले इस पुरुष का इतना बड़ा अभिमान कैसे उचित है ?

३५५. जो स्त्रियों से प्राप्त धन पर निर्वाह करते हैं यदि वे जीते हैं तो मरे किन्हें कहेंगे ?

३५६. जब वे दो चिर से बिछुड़े हुए मिले तो नयनों से प्रेमाश्रुधारा बहने लगी ।

३५७. आजकल संसार शङ्काग्रस्त है । सभी राष्ट्र सबल अथवा निर्बल अपने को भविष्यहीन समझते हैं ।

३५८. देवदत्त बातूनी है, प्रियव्रत बकवासी है, अतः इन दोनों का समाज में मान घट रहा है ।

---

३५५. स्त्रैणम्—स्त्रीभ्य आगतम् । 'स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्' (४।१।८७) से नञ् प्रत्यय होता है ।

३५६. उपश्लेषे—संनिकर्षे, मेल होने पर । प्रावृतत्—वृत् का परस्मैपद में लुङ् । द्युतादि होने से 'पुषादि—' (३।१।५५) से च्लि को अङ् आदेश होता है । आत्मने० में 'प्रावर्तिष्ट' रूप होगा ।

३५७. स्वम्—आत्मानम् । 'स्व' शब्द के आत्मा, आत्मीय (अपना), धन और ज्ञाति (बन्धु)—ये अर्थ हैं । पहले दो अर्थों में इसकी सर्वनाम संज्ञा है । निरायतिकम्—आयति उत्तरकाल को कहते हैं । 'निरायतिकम्' बहुव्रीहि है । निष्कान्ताऽऽयतिर्यस्य तम् । आत्मार्थ में 'स्व' शब्द पुँल्लिङ्ग है ।

३५८. वाचालः, वाचाटः—'आलजाटचौ बहुभाषिणि' (५।२।१२५)

३५९. आशुरयमश्वः । तेनाचिरेणातिपतिष्यामोऽध्वानम् ।

३६०. सम्प्रति संरूढास्तस्य नयनव्रणाः । चिरमसौ तपस्वी दुःखमाप्त ।

३६१. देवदत्तश्च तस्य भगिनी चोभावपि पर्यध्ययनौ । यत्न-शतेनापि न शक्यमनयोर्मनः पठने प्रसञ्जयितुम् ।

३६२. किं नाम सत्त्वमृषीणां प्रातिभस्य चक्षुषोऽगोचरः । ते हि भगवन्तो व्यवहितविप्रकृष्टमपि हस्तामलकवत्पश्यन्ति ।

३६३. यत्र समाजे मूर्खाः प्रधानम्, उपसर्जनं च पण्डिताः स चिरं नावतिष्ठते ।

३६४. मन्थरं याति जरती । तपस्विनीयं कृच्छ्रक्षामाऽस्थिपञ्जरः संवृत्ता ।

से 'वाच्' से मत्वर्थीय आलच् और आटच् प्रत्यय होते हैं, जब अर्थ बहुत बोलने वाला हो। इस पर वार्तिक है—'कुत्सिते इति वक्तव्यम्' अर्थात् जो बहुत कुत्सित बोलता हो वहाँ ये दो प्रत्यय होने चाहियें। कुत्सा न हो तो 'वाचो ग्मिनिः' (५।२।१२) से ग्मिनि प्रत्यय होकर 'वाग्मी' रूप होता है।

३५९. आशुः—शीघ्रः। शीघ्रगामी। अतिपतिष्यामः—लङ्घिष्यामहे, लाँघ जायेंगे।

३६०. नयनव्रणाः—व्रण पुं० और नपुं० हैं। तपस्वी—वराकः बेचारा, अगतिक, अवश। तपः शब्द का अर्थ—शीतोष्णादि द्वन्द्वों को सहना है। जो यति इन द्वन्द्वों को अपनी इच्छा से सहता है और उस सहन से ऋद्धिसिद्धि को प्राप्त हो रहा है, और नित्य प्रसन्नचित्त रहता है। उसे भी हम अपनी तरह बेवसी से कष्ट झेलता हुआ समझ कर शोच्य मान लेते हैं। तब तपस्वी जो व्रती का नाम था वह शोच्य अर्थ में प्रयुक्त होने लगता है। और कोषकार इन दोनों अर्थों को संगृहीत कर कहते हैं—

३५९. यह घोड़ा बहुत तेज़ चलता है, अतः हम थोड़े समय में सफ़र तै कर लेंगे।

३६०. अब उस के नयनों के घाव अच्छे हो गये हैं, वेचारे ने बहुत कष्ट पाया।

३६१. देवदत्त और उसकी बहिन दोनों ही पढ़ाई से ऊब गये हैं। अब लाख यत्न करने पर भी इनका मन पढ़ाई में नहीं लगाया जा सकता।

३६२. कौन सा पदार्थ ऋषियों की प्रतिभारूपी दृष्टि से परे है? महा-महिमशाली वे तो दूर और तिरोहित अर्थों को भी हाथ पर पड़े हुए आमले की तरह देखते हैं।

३६३. जिस समाज में मूर्ख प्रधान हों और पण्डित गौण, वह देर तक नहीं रह सकता।

३६४. यह बुढ़िया धीरे-धीरे चलती है। वेचारी दुःखों से क्षीण होकर हड्डियों का पञ्जर बन गई है।

अतिशोच्यौ तपस्विनौ। आष्ट—अशूङ् व्याप्तौ का लुङ्। यह धातु ऊदित् होने से वेट् है; अतः इट्-पक्ष में 'आशिष्ट' रूप होगा।

३६१. पर्यध्ययनौ—अध्ययनाय परिग्लानौ। 'पर्यादयो ग्लानाद्यर्थे चतुर्थ्या' से प्रादि तत्पुरुष हुआ।

३६२. सत्त्वम्—द्रव्यम्। सत्त्व का अर्थ प्राणी भी है। प्रातिभस्य चक्षुषः—प्रतिभा एव प्रातिभम्। प्रज्ञादि होने से स्वार्थ में अण्। यहाँ व्यस्त रूपक है। 'गोचर' शब्द घ-प्रत्ययान्त निपातन किया है और घ-प्रत्ययान्त नित्य पुं० होते हैं। 'अगोचर' यह नञ्तत्पुरुष है।

३६३. प्रधानम्, उपसर्जनम्—ये दोनों शब्द नित्य नपुं० हैं और अधिकतर इनका एकवचन में प्रयोग होता है।

३६४. कृच्छ्रक्षामा—कृच्छ्रैः क्षामा। क्षाम शब्द 'क्षै' का निष्ठान्त रूप है। 'क्षायो मः' (८।२।५३) से क्त के स्थान में 'म' हो जाता है। संवृत्ता—यहाँ उद्देश्य के लिङ्ग के अनुसार स्त्रीलिङ्ग हुआ, 'पञ्जर' विधेय के

३६५. गायति ब्रुवम्, क्रोशति चाञ्जसा ।
३६६. पचति पूति । सर्वा रोटिका अवदग्धाः कर्कशाश्च संवृत्ताः ।
३६७. स दारुणमध्यापयति, सकृच्छ्रुताऽपि व्याख्याऽत्यन्ताय हृदि पदं करोति ।
३६८. पचति गोत्रम् । अनर्हेयं रसवतीप्रवेशस्य ।

३६९. अयं माणवकः पठतिरूपम् । न निरस्तं पठति न च ग्रस्तम् । मधुरमश्लिष्टं चोच्चारयति ।
३७०. स किमधीते य उदात्ते कर्तव्येऽनुदात्तं करोति ।

३७१. प्रियप्रियेण ददाति । अभीतवदुपसर्पतीमं याचको जनः ।

लिङ्ग के अनुसार नहीं । इस विषय में हमारी कृति 'शब्दापशब्दविवेकः' की भूमिका में उद्देश्य-विधेय प्रकरण देखो ।

३६५. गायति ब्रुवम्—यहाँ 'ब्रुव' शब्द कुत्सा अर्थ में प्रयुक्त स्वतन्त्र पद है । ऐसे व्यवहार में 'तिङो गोत्रादीनि कुत्सनाभीक्ष्ण्ययोः' (८।१।२७) ज्ञापक है । तिङन्त पद से परे गोत्र आदि (गोत्र, ब्रुव, नाम इत्यादि) को निघात विधान करने के लिए यह सूत्र है, जब ये गोत्रादि कुत्सा अथवा पौनः-पुन्य को कहें । अञ्जसा—(अ०) यथार्थ में ।

३६६. पचति पूति—यहाँ पूति सुबन्त पद है, क्रियाविशेषण होने से नपुं० है । इस व्यवहार में 'कुत्सने च सुप्यगोत्रादौ' (८।१।६९) ज्ञापक है । यहाँ तिङन्त को अनुदात्त हो जब कुत्सा में वर्तमान पूति आदि सुबन्त पद परे प्रयुक्त हों, ऐसा विधान है । अवदग्धाः—'अव' के इस अर्थ पर ध्यान देना चाहिए ।

३६७. दारुणम्—क्रियावि० । दारुण शब्द यहाँ अद्भुत का पर्याय है । ऐसे व्यवहार में 'पूजितात्पूजितमनुदात्तम्' (८।१।६७) और इस पर

३६५. कहने को तो गा रहा है, पर वस्तुतः चिल्ला रहा है ।

३६६. खाक पकाती है ! सभी रोटियाँ अधजली तथा सख्त होगई हैं।

३६७. वह गज़ब का पढ़ाने वाला है, एक बार सुनी हुई व्याख्या सदा के लिये हृदय में घर कर लेती है ।

३६८. पकाती क्या है घर वालों का सिर । इसे तो रसोई में बैठने का अधिकार नहीं है ।

३६९. यह कुमार बहुत अच्छा पढ़ता है । न तो कोई अक्षर छोड़ता है और न चबाता है । मधुर और स्पष्ट उच्चारण करता है ।

३७०. इस का क्या उच्चारण है जो उदात्त के स्थान में अनुदात्त उच्चारण करता है ।

३७१. वह खुशी खुशी से देता है अतः भिक्षु इस के पास निर्भय होकर जाते हैं ।

'काष्ठादिभ्यो वक्तव्यम्' यह वार्तिक ज्ञापक है। दारुणाध्यापकः, दारुणमध्यापकः, दारुणमधीते, दारुणमध्यापयति—ये सब प्रयोग होते हैं । काष्ठ आदि शब्दों में से कुछेक प्रसिद्ध-प्रसिद्ध ये हैं—काष्ठ, दारुण, अद्भुत, घोर, भृश, परम ।

३६९. पठतिरूपम्—यहाँ प्रशंसा में रूपप् प्रत्यय है । दो अच्छा पढ़ रहे हैं तो उन्हें 'पठतोरूपम्' कहेंगे, तीन हों तो 'पठन्तिरूपम्' । अम्लिष्टम्—व्यक्तम् । 'क्षुब्धस्वान्तध्वान्त—' (७।१।१८) से म्लेच्छ् धातु से क्तान्त रूप निपातन किया गया है ।

३७०. किम् अधीते—यहाँ 'किम्' के प्रयोग के स्पष्टीकरण के लिए वाक्य सं० ११४ का टिपप्ण देखो ।

३७१. प्रियप्रियेण—'आकृच्छ्रे प्रियसुखयोरन्यतरस्याम्' (८।१।१३) से यहाँ प्रिय का दोबारा उच्चारण होता है । प्रियप्रियेण=बिना दुःख अनुभव किए ।

३७२. वसन्ते यदा पिकः पञ्चमेन स्वरेणापिकायति तदा विपञ्चीस्वरा अपि विरसीभवन्ति ।

३७३. एतावान् वाक्प्रपञ्चः साक्षरस्य नागरिकस्य जननिवहस्य प्रज्ञाधिक्षेप इव ।

३७४. सस्यलावाः कृषीवला दात्राणि सहादाय क्षेत्रं यान्ति ।

३७५. अनियन्त्रितं ते तुण्डम् । सर्वकालमसमञ्जसं वक्षि ।

३७६. अश्वे पर्याणमारोप्य मुखे खलीनं दत्त्वा पादधान्योः पादौ न्यस्य प्रग्रहांश्च हस्तेनादाय स वातरंहसा निरयात् ।

३७७. का त्वरा । चिरेण प्रयास्यति रेलयानम् । मा स्म व्याकुली भूः ।

३७८. हरिमित्रः स्वदेशे कृत्तोतं स्थूलमनुल्वणं च वसनं वस्ते, महच्च मान्यते बन्धुतया ।

३७९. द्वौ शिष्यौ कुशं काशं वालम्ब्याकलहायेताम् । एकोऽपरमशपत् । ततोऽपरोऽसिं निष्कृष्य पूर्वस्य पाणिमकृन्तत् ।

---

३७२. अपिकायति—अपि पूर्वक कै (गै) शब्दे का रूप है। इसी धातु से 'पिक' शब्द की निष्पत्ति होती है। वहाँ 'वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः' इस भागुरि-मत से 'अपि' के 'अ' का लोप हो जाता है।

३७४. सस्यलावाः—सस्यं लविष्यन्तीति। यहाँ 'अण् कर्मणि च' (३।३।१२) से कर्म (सस्य) उपपद होने पर भविष्यत्काल में अण् प्रत्यय होता है, जब क्रियार्था क्रिया भी उपपद हो, जैसे यहाँ 'यान्ति' है। यहाँ जाना खेती काटने के लिए ही तो है। कृषीवलाः—'कृषि' से मत्वर्थीय वल् प्रत्यय होता है। 'रजः कृष्यासुतिपरिषदो वलच्' (५।२।११२)। 'वले' (६।३।११८) से दीर्घ हुआ है। दात्राणि—दाप् लवने से 'दाम्नीशस—' (३।२।१८२) से ष्ट्रन् प्रत्यय होता है। दाति (=लुनाति) अनेनेति दात्रम्।

३७५. वक्षि—वच्-सिप्।

३७६. खलीनम्—कविकम्।

३७२. वसन्त में जब कोयल पञ्चम स्वर से गाती है तो वीणा के स्वर भी फीके पड़ जाते हैं।

३७३. इतना वाणीविस्तार लिखे-पढ़े शहरियों की बुद्धि का अपमान है।

३७४. खेती काटने के लिये किसान दान्तियाँ लेकर खेत को जा रहे हैं।

३७५. तेरा मुँह बेलगाम है। तू नित्य ही अनाप-शनाप बकता रहता है।

३७६. घोड़े पर काठी डाल, मुख में लगाम दे, रकेबों में पाओं रख, हाथ में बागों को ले वह हवा हो गया।

३७७. क्या जल्दी है? रेलगाड़ी के चलने में अभी देर है। घबराइये नहीं।

३७८. हरिमित्र अपने देश में काते और बुने हुए मोटे और सादे वस्त्र पहनता है और इस कारण बन्धुवर्ग इसका बहुत मान करता है।

३७९. दो सिक्ख मामूली सी बात पर झगड़ पड़े। एक ने दूसरे को गाली दी, तब दूसरे ने तलवार निकाल कर पहले का हाथ काट दिया।

---

३७७. मा स्म भूः—स्म सहित माङ् उपपद होने पर भू का लुङ्। पक्ष में लङ् का प्रयोग भी हो सकता है—मा स्म भवः। व्याकुली—च्विप्रत्ययान्त अव्यय है। लोक में तिङन्त के साथ समास न होने से पृथक् पद है। हाँ व्याकुलीभूतः, व्याकुलीकृतः—यह समास है।

३७८. कृत्तोतम्—कृत्तं च तत् उतं च। कृत्तम्—कृती परिवेष्टने रुधादि का क्तान्त रूप है। उतम्—वेञ् तन्तुसन्ताने (बुनना) का क्तान्त रूप है। अनुल्बणम्—जो भड़कीला न हो। वस्ते—वस आच्छादने अदादि आ०। बन्धुतया—'ग्रामजनबन्धुभ्यस्तल्' (४।२।४३) से समूह अर्थ में तल् प्रत्यय हुआ है। 'तलन्तं स्त्रियाम्' इस वचन से स्त्रीत्व होकर टाप् हुआ। बन्धूनां समूहः=बन्धुता।

३७९. अकलहायेताम्=कलहमकुर्वाताम्। 'शब्दवैरकलहाभ्र—' (३।१।१७) से करण (करना) अर्थ में द्वितीयान्त 'कलह' से क्यङ् प्रत्यय होता

३८०. कुसुमेषूद्भ्रमन्त्यलयः कलं च किमपि गुञ्जन्ति ।

३८१. भीरुकः सनिकारं सन्धिमभिरोचयते न संगरम् ।

३८२. परोपकरणीकृतकायास्त्वादृशा विरला एव जगति जायन्ते, उदरम्भरयस्तु भूरयः ।

३८३. सर्वकालमितस्ततः परिक्रामन्तमेव त्वां पश्यामि । वृत्तिं केन कल्पयसि ?

३८४. किं नु खलु कीर्त्यैत देवदत्तस्य । स हि गुणानां खनिः ।

३८५. अद्य तिस्रो विंशतयः पात्राणां त्रपुलेपं लम्भिताः, नव रूप्यकाणि च भृतिर्दत्तानि ।

३८६. गगनाभोगे विद्युद्रेखावलयिता कादम्बिनी कामप्यपूर्वां सुषमां पुष्यति ।

है । अशपत्—शप् के तीन अर्थ हैं—शाप देना, गाली देना, शपथ लेना । धातु स्वरितेत् (उभयपदी है) पर शपथ लेने अर्थ में केवल आ० है ।

३८०. उद्भ्रमन्ति=उच्चैर्भ्रमन्ति, परिपतन्ति, परिसरन्ति ।

३८१. सनिकारम्—निकारेण न्यक्कारेण सह वर्तमानम् ।

३८२. परोपकरणीकृतकायाः—परेषामुपकरणं साधनमिति परोपकरणम् । तन्न भवतीति अपरोपकरणम् । अपरोपकरणं परोपकरणं सम्पद्यमानः कृतः (कायः) इति परोपकरणीकृतः । परोपकरणीकृतः कायो येषां ते परो० । उदरम्भरयः—'फलेग्रहिरात्मम्भरिश्च' (३।२।२६) से आत्मम्भरि निपातन किया है । 'चकार' अनुक्त समुच्चय के लिए है, जिससे उदरम्भरि, कुक्षिम्भरि, इत्यादि प्रयोग साधु माने जाते हैं ।

३८३. सर्वकालम्—यहाँ अत्यन्त संयोग में द्वितीया है । परिक्रामन्तम्—परिक्रम् का अर्थ घूमना, चक्कर काटना, टहलना है । कल्पयसि—क्लृप् सामर्थ्ये से णिच् करके लट् का रूप है । कल्पयसि=रचयसि, उत्पादयसि,

३८०. भौंरे फूलों पर मँडरा रहे हैं और अनोखी मधुर गुंजार कर रहे हैं।
३८१. डरपोक अपमान सहित सन्धि को पसन्द करता है, युद्ध को नहीं।
३८२. अपने शरीर को दूसरों की सेवा का साधन बनाने वाले तुम्हारे जैसे विरले ही इस लोक में उत्पन्न होवे हैं, (केवल) अपना पेट भरने वाले तो बहुत हैं।
३८३. मैं तुझे हर समय घूमते-घामते देखता हूँ। जीविका कैसे अर्जन करते हो?
३८४. देवदत्त का तो क्या ही कहना। वह तो गुणों की खान है।
३८५. आज तीन कोड़ी बर्तनों को कलई कराई गई और नौ रुपये मज़दूरी दी गई।
३८६. विस्तीर्ण आकाश में विद्युत्-रेखा से घिरी हुई मेघमाला किसी अपूर्व शोभा को धारण कर रही है।

करोषि।

३८४. देवदत्तस्य—यह सम्बन्धमात्र में षष्ठी है। ऐसी ही षष्ठी 'सा लक्ष्मीरुपकुरुते यया परेषाम्' यहाँ परेषाम् में हुई है।

३८५. लम्भिताः—एयन्त लभ् धातु को द्विकर्मक माना जाता है जब अर्थ में गति की प्रधानता हो और प्राप्ति की गौणता। यहाँ प्रयोज्य कर्म (तिस्रो विंशतयः) में क्त (लम्भित में) हुआ, अतः कर्म उक्त होने से उसमें प्रथमा हुई। भृतिर्दत्तानि—यहाँ 'दत्तानि' पद में लिङ्गसंख्या विधेय (भृति) के अनुसार न होकर उद्देश्य (नव रूप्यकाणि) के अनुसार हुए हैं। इस विषय में हमारी कृति 'शब्दापशब्दविवेकः' की भूमिका में उद्देश्य-विधेय प्रकरण देखो।

३८६. कादम्बिनी—मेघमाला। कमाददते कादम्बा मेघाः, ते सन्त्यस्याम्। कदम्बे नीपे विकासो वाऽस्त्यस्याम्—क्षीरस्वामी। सुषमा=परमा शोभा।

३८७. गन्त्र्याः सहसा पर्यभिवनेन तदारूढानां कीकसानि पर्शुकाश्च भग्नानि ।

३८८. कस्येयं तीक्ष्णशृङ्गी घटोध्नी चारुकर्णी पयस्विनी ?

३८९. उभय्यः प्रजापतेः प्रजा देवाश्चासुराश्च ।

३९०. रात्रिरेषा, दूरे च वसतिः, अभितश्च फेरूणां फेत्कारः श्रूयते ।

३९१. यद्भवतु तद्भवतु, असवो रक्षणीयाः । स्वयंगते जगज्जालं गतमेव न संशयः ।

३९२. अहो सुश्लिष्टं शरीरम् । अहो सुन्दर्यः स्नायवः । मन्ये व्यायामकृत एष प्रकर्षः ।

३९३. नेमे दारुणो विकारा अलङ्काराः, वह्निभोज्यस्य जतुन इमे भवन्ति ।

३९४. राष्ट्ररक्षा भूम्ना चमूष्वायतते ।

३९५. यदा भवान्विपणिं गच्छेत् तदा मदर्थं कतिपयानि रसवन्ति जम्बू फलान्याहरेत् ।

---

३८७. गन्त्र्याः—गन्त्री बैलगाड़ी को कहते हैं। गन्त्री कम्बलिवाह्यकम्—अमर। पर्यभिवनेन—परि–आङ्–भू=उलटना।

३८८. तीक्ष्णशृङ्गी—'नासिकोदरौष्ठ—' (४।१।५५) से ङीप्। 'शृङ्ग' के संयोगोपध होने से 'स्वाङ्गाच्चोप—' (४।१।५४) से ङीष् की प्राप्ति नहीं थी। घटोध्नी—यहाँ ऊधसोऽनङ् (५।४।१३१) से अनङ् समासान्त होता है। यह समासान्त स्त्रीलिङ्ग में ही होता है (ऊधसोनङि स्त्रीग्रहणं कर्तव्यम्)। 'बहुव्रीहेरूधसो ङीष्' (४।१।२५) से स्त्रीत्व विवक्षा में ङीष् प्रत्यय होता है। घट इव ऊधो यस्याः सा घटोध्नी।

३८९. उभय्यः—उभय शब्द से 'टिड्ढाणञ्—' (४।१।१५) से ङीप्। बहुवचन। उभय शब्द में तयप् के स्थान में अयच् हुआ है और तयप् सूत्र

३८७. गाड़ी के उलट जाने से सवारियों की हड्डियाँ व पसलियाँ टूट गईं।

३८८. तेज़ सींगों वाली, घटपरिमाण वाली, सुन्दर कानों वाली यह गौ किस की है।

३८९. देव और असुर ये प्रजापति की दो प्रजाएँ हैं।

३९०. रात का समय है, बस्ती दूर है, और चारों ओर गीदड़ों का शब्द सुनाई दे रहा है।

३९१. जो हो सो हो, प्राण बचाने चाहियें। आप मरे जग परलै।

३९२. कितना सुघड़ शरीर, कितने सुन्दर पट्ठे! मेरा विचार है यह विशेषता व्यायाम का परिणाम है।

३९३. ये भूषण लकड़ी के नहीं हैं, ये तो जतु (=लाख) के हैं जिसे झट आग लग जाती है।

३९४. राष्ट्र की रक्षा बहुत दर्जे तक सेनाओं पर निर्भर है।

३९५. जब आप बाजार जायें तो मेरे लिये कुछेक रसभरी जामुन ले आना।

में साक्षात् पढ़ा है।

३९०. फेरूणाम्—फेरुफेरवजम्बुकाः—अमर।

३९१. स्वयंगते—आत्मना गमने सति। अन्यथा स्वस्मिन्गते (=याते, प्रेते) ऐसा कहना चाहिये।

३९२. सुन्दर्यः—सुन्दर शब्द से स्त्री० में गौरादि होने से ङीष् होता है। 'स्नायु' स्त्रीलिङ्ग है।

३९४. भूम्ना=बाहुल्येन। 'बहु' से इमनिच् होकर भूमन् शब्द सिद्ध होता है। बहोर्भावः=भूमा।

३९५. विपणिम्—विपणिः पण्यवीथिका—अमर। जम्बूम्—यहाँ जम्बू के फल के अर्थ में प्रत्यय का 'लुप् च' (४।३।१६६) इस सूत्र से लुप्

३९६. गौडा दध्नोपसिक्तमोदनं भुञ्जते, पञ्चनदीयास्तु रुजार्ता एव पयसोपसिक्तं दध्ना वोपसिक्तं भक्तम् ।

३९७. मम भ्रातृजाया ननान्द्रा न संजानीते, यातरि तु भृशं प्रीयते ।

३९८. वर्षासु सरितां स्रोतसां सरसां सरसीनां च सलिलमाविलं भवत्यन्यत्र मानसात् ।

३९९. महान्तमनर्थमुपनमन्तमुत्प्रेक्षे । तेन प्रतिजागृहि ।

४००. प्रभातकल्पा शर्वरी । मौक्तिकसच्छायैरुडुभिर्मण्डितं वियच्छनैः शनैर्हतप्रभं भवति ।

होकर 'लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने' (१।२।५१) से युक्तवद्भाव होता है। जम्ब्वाः फलम्=जम्बूः। बहुत्व में जम्बूः फलानि ऐसे कहा जायगा। द्वितीया विभक्ति में "जम्बूम्" एकवचनान्त (स्त्री०) होते हुए भी फल (अभिधेय) के साथ सीधा अन्वय होने से कतिपय और रसवत् विशेषण नपुं० बहु० में प्रयुक्त हुए। जम्बू फल विवक्षित है, पादप नहीं, अतः फल शब्द का अनुप्रयोग किया गया है। 'फल' यहाँ सामान्यवचन है, 'जम्बू' विशेषवचन है। अतः यह फल को विशिष्ट करता है। विशेषण आपस में अन्वित नहीं होते, एक विशेष्य के साथ ही अन्वित होते हैं। अतः रसवत् और कतिपय विशेषण 'फल' विशेष्य के साथ अन्वित होते हुए उसी के लिङ्ग और वचन को लेते हैं। जैसे अयं शिंशपा वृक्षः—यहाँ 'इदम्' (विशेषण) 'वृक्ष' सामान्य वचन (विशेष्य) के लिङ्ग को लेता है, विशेषण 'शिंशपा' के लिङ्ग को नहीं।

३९७. संजानीते—'सम्प्रतिभ्यामनाध्याने' (१।३।४६) से सम्पूर्वक 'ज्ञा' से आत्मनेपद होता है। 'संज्ञोऽन्यतरस्यां कर्मणि' (२।३।२२) से कर्म में विकल्प से तृतीया होती है। सम्पूर्वक ज्ञा के तीन अर्थ हैं—

३९६. गौड लोग दही मिलाकर भात खाते हैं, पंजाब के लोग तो बीमार होने पर ही दूध अथवा दही मिला कर भात का सेवन करते हैं।

३९७. मेरी भाभी अपनी ननान्द के साथ अनुकूलता का व्यवहार नहीं करती, पर देवरानी से बहुत प्रीति करती है।

३९८. बरसात में नदियों, सोतों, तालाबों और झीलों का जल मैला हो जाता है, एक 'मानस' को छोड़ कर।

३९९. मैं देख रहा हूँ कि एक बड़ी आपत्ति आने वाली है, इसलिये खबरदार हो जाओ।

४००. पौ फटने को है, अतः मौक्तिक समान कान्ति वाले तारों से मण्डित आकाश धीरे धीरे उज्ज्वलता-हीन हो रहा है।

---

१. प्रतिज्ञा करना, शतं संजानीते (=प्रतिजानीते)। यहाँ भट्टोजिदीक्षित संजानीते=अवेक्षते (परवाह करता है) ऐसा अर्थ करते हैं। २. उत्कण्ठा-पूर्वक स्मरण करना—मातुः संजानाति। ३. अच्छी तरह जानना, अनु-कूलता से रहना—मातरं मात्रा वा संजानीते। प्रीयते—प्रीङ् प्रीतौ दिवादि, अकर्मक। प्रीयत=प्रीतिमती भवति।

३९८. अन्यत्र मानसात्—यहाँ अन्यत्र के योग में मानस शब्द से 'अन्यारादितरर्ते—' (२।३।२९) से पञ्चमी हुई है।

३९९. अनर्थम्—अर्थ और अनर्थ नित्य पुं० हैं। उपनमन्तम्—उप नम् का अर्थ समीप आना, प्राप्त होना है। प्रतिजागृहि—अवेक्षस्व। अव-ईक्ष् का अर्थ है देखभाल करना, खबर रखना। अवेक्षा प्रतिजागरः—अमर।

४००. प्रभातकल्पा—ईषदसमाप्ता प्रभाता इति। शर्वरी—शृणाति चेष्टा इति। 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' (३।२।७५) से 'शृ' से वनिप् प्रत्यय हुआ। 'वनो र च' (४।१।७) से स्त्रीलिङ्ग में वन् के न् को र् और ङीप् प्रत्यय होता है। उडुभिः=तारकाभिः। नक्षत्रमृक्षं भं तारा तारकाप्युडु वा स्त्रियाम्—अमर। इस वचन से उडु नपुं० तथा स्त्रीलिङ्ग है। वियत्—नपुं०।

४०१. जनाकीर्णमेतत्संसरणं विहाय वर्तनीमनुवर्तस्व सुखं चेद् यियाससि ।

४०२. सिंहसंहननो मेधावी चायं वयस्थो द्रष्टॄणां चित्तमयस्कान्तो लोहमिव हरति ।

४०३. आर्जवेनाजीवः सम्पादनीयः, गर्धेन तु नात्मा पातनीयः। अयमेव सुपन्थाः, इतो विपरीतस्त्वपन्थाः ।

४०४. दीर्घोऽयमध्वा । इमं कैरपि प्रयाणकैरतिक्रमिष्यामः ।

४०५. अग्निर्नाम तापदाहाभ्यां विरहित इति संकुलं वचः ।

४०६. न द्विषः प्रत्ययं गच्छेत् ।

४०७. पराग्दृशो वयं न प्रत्यग्दृशः ।

४०८. वर्षासु सिन्धोर्नद्याः पात्रं तथा वरीयो भवति यथैषा जलधिमनुहरति ।

४०९. कल्याणाचारेयं कन्या कमन्ववायमलङ्करोति जनुषा ?

---

४०१. संसरणम्—संसरन्ति अनेन । घण्टापथः संसरणम्—अमर ।

४०२. सिंहसंहननः—वराङ्गरूपोपेतो यः सिंहसंहननो हि सः—अमर । वयस्थः—वयसि तिष्ठतीति । यहाँ 'खर्परे शरि विसर्गलोपो वा वाच्यः' इस वार्तिक से 'वयः' के विसर्ग का विकल्प से लोप होता है, पक्ष में विसर्ग रहने पर 'वयःस्थः' ऐसा रूप भी होगा ।

४०४. प्रयाणकैः—यहाँ 'प्रयाण' में करण में ल्युट् है । प्रयायतेऽनेनेति । संज्ञायां कन् ।

४०५. संकुलम्—परस्परविरोधी । संकुलक्लिष्टे परस्परपराहते'—अमर ।

४०६. प्रत्ययोऽधीनशपथज्ञानविश्वासहेतुषु—अमर । यहाँ वाक्य रचना

४०१. यदि आराम से जाना चाहते हो तो इस भीड़ वाले घण्टापथ को छोड़ पगडण्डी पकड़ लो।

४०२. उत्तम रूप और अङ्ग युक्त, बुद्धिमान् यह युवक दर्शकों के चित्त को ऐसे हरता है जैसे चुम्बक लोहे को।

४०३. सरलता से जीविका प्राप्त करनी चाहिये, लालच से अपने आप को गिराना नहीं चाहिये। यही सुमार्ग है, इस से उलटा तो कुमार्ग है।

४०४. सफर लम्बा है। इसे हम कई पड़ाओ करके लांघ सकेंगे।

४०५. यह कहना कि अग्नि ताप (उष्णता) और दाह (जलाना) से रहित है, विरोधी वचन है।

४०६. शत्रु का विश्वास न करे।

४०७. हम बाहिर की ओर देखते हैं अन्दर की ओर नहीं।

४०८. बरसात में सिन्धु नदी का पाट इतना बड़ा हो जाता है कि यह समुद्र का रूप धारण कर लेती है।

४०९. मङ्गलाचरण-युक्त इस कन्या ने अपने जन्म से किस कुल को अलंकृत किया है।

पर विशेष ध्यान देना चाहिए। इस वाग्व्यवहार को बुद्धिस्थ करना चाहिए।

४०७. पराग्दृशः—प्रयोग के साधुत्व के लिए उपनिषद् का 'पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूः, तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्' ॥ यह वचन प्रमाण जानना चाहिए।

४०८. पात्रम्—'योग्यभाजनयोः पात्रम्' इस अमर के वचन पर क्षीरस्वामी लिखते हैं—नदीकूलान्तरे यज्ञभाण्डे नाट्यानुकर्तरि (च)। वरीयः—उरुतरम्। अनुहरति—अनुकरोति, सदृशी भवति।

४०९. अन्ववायम्—यह पुं० है और अन्वय के साथ समानार्थक है। इस शब्द में 'अव' अधिक है। अनु, अव, अयः=अन्ववायः।

४१०. दश सहस्राणि पञ्च शतानि द्विषष्टिं चाष्टाभिः शतैश्चतुष्पञ्चाशता चाजहि ।

४११. मातृदर्शनस्योत्कण्ठते बालः । चिरमद्य तेनास्या दृष्टायाः ।

४१२. शीधुनि प्रसजति भ्रश्यति चाचारात् ।

४१३. किं न पश्यसि स्वोक्तिं विप्रतिषेधसीति । वदतो व्याघातो ह्युन्मत्तप्रलाप इव भवति । न चैष भवादृशेषूपपद्यते ।

४१४. दिष्ट्या पुत्त्रलाभेन वर्धते भवान् । चिरमयं जातकः पित्रोर्नन्दिकरो भूयात् ।

४१५. इमां वेलां त्वामन्विष्यामि, क्व निलीयसे ?

४१६. पुरा वर्षति देवः, संवृतो विद्यालयः, विद्यार्थिनश्च यथास्वं गृहाणि यान्ति ।

४१७. यो दीव्यति स परिदेवयते । द्यूतं च गर्हन्ते शिष्टाः ।

---

४१०. आजहि--आहतानि कुरु । यहाँ उर्दू के साथ भी आश्चर्यजनक व्यवहार-समानता है । उर्दू में जरब करो ऐसा कहते हैं, जरब = चोट । ऐसे ही संस्कृत में आ हन् का अर्थ चोट मारना है । यही धातु गुणनक्रिया में प्रयुक्त होती है ।

४११. मातृदर्शनस्य--यहाँ उत्कण्ठते = उत्कण्ठापूर्वकं स्मरति । जैसे 'स्मरति वनगुल्मस्य कोकिलः' यहाँ शैषिकी षष्ठी हुई है, वैसे ही प्रकृत में भी जानना ।

४१२. शीधुनि--सुरायाम् । शीधु--पुँ० और नपुं० है । भ्रश्यति--दिवादि भ्रंश् का रूप है । यह परस्मै० है । भ्वादि आ० है । उसका रूप होगा--भ्रंशते ।

४१३. विप्रतिषेधसि--विरुणत्सि । विप्रतिषेधस्तुल्यबलविरोधः । यहाँ

४१०. दस हजार पांच सौ बासठ को ८५४ से गुण करो।

४११. बच्चा माता के दर्शन के लिये उत्सुक है। आज इसे उसे देखे हुए बहुत समय हो गया है।

४१२. उसे शराब की लत पड़ गई है, वह इस कारण आचार-हीन हो रहा है।

४१३. क्या तू नहीं देखता तू अपने वचन का विरोध कर रहा है। वक्ता का अपना विरोध पागल के प्रलाप के सदृश है। और यह आप जैसों के योग्य भी नहीं।

४१४. आप को पुत्रजन्म पर बधाई हो। परमात्मा करे यह बालक चिर तक माता-पिता को आनन्द देने वाला हो।

४१५. मैं तुझे इतने समय से ढूंढ रहा हूं, कहाँ छिप जाते हो।

४१६. मेह बरसने को है, विद्यालय बन्द हो गया है और विद्यार्थी अपने-अपने घरों को जा रहे हैं।

४१७. जो जूआ खेलता है वह पछताता है। द्यूत की शिष्ट लोग निन्दा करते हैं।

षिध गत्यां भ्वादि का प्रयोग है। 'उपसर्गात्सुनोतिसुवति—' (८।३।६५) से 'स्' को मूर्धन्य ष् होता है।

४१४. नन्दिकर —नन्दिरानन्दः, तं करोतीति तच्छीलः। यहाँ 'कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु' से 'ट' प्रत्यय होता है।

४१५. इमां वेलाम्—अत्यन्त संयोग में द्वितीया। यहाँ किसी और विभक्ति (तृतीया, पञ्चमी आदि) की प्राप्ति ही नहीं।

४१६. यथास्वम्—स्वानि स्वानि। यह वीप्सा अर्थ में 'यथाऽसादृश्ये' (२।१।७) से अव्ययीभाव समास है। इसी अर्थ में दूसरा प्रयोग 'यथा-यथम्' है।

४१७. परिदेवयते—दिव परिकूजने चुरादि, नित्य आत्मनेपदी। इस से पहले नियम से 'परि' उपसर्ग का प्रयोग होता है।

४१८. देवदत्तो यज्ञदत्तस्य षोडशीमपि कलां न स्पृशति । क्व भोजराजः क्व च कुब्जस्तैली ।

४१९. आक्षारणा मे मर्माणि स्पृशति । अन्यद् मिथ्याभिशंसनं न तथा तुदति ।

४२०. ये व्यायच्छन्ते ते न मेदन्ते, न च रुज्यन्ते ।

४२१. शरदि शालयः पच्यन्ते, काशः पुष्यति, पङ्कजानि च विकसन्ति । सुधासूतिरपि किमपि कामनीयकं धत्ते ।

४२२. शुचौ यातयामः श्राणः शाकः शुच्यति पूयते च कलया ।

४२३. प्रवयाः प्राजिता प्राजनेनाभिघातमभिघातम् ऋषभतरान् प्राजति ।

४२४. साऽनुदिनमङ्गैर्मुच्यते, न जाने केन रोगेण ग्रस्यत इवेति ।

४२५. रात्रौ रोचमान इन्दुः कस्य न प्रियोऽन्यत्र कामुकात् कुम्भीलकाच्च ।

---

४१९. आक्षारणा—आङ् के विना भी प्रयोग होता है । मैथुन-विषयक मिथ्या दोषारोप । अभिशंस्—का अर्थ दोष से युक्त करना, निन्दा करना है । स्पृशति=तुदति ।

४२०. व्यायच्छन्ते—वि, आङ् पूर्वक यम् । 'आङो यमहनः' (१।३।२८) से धातु के अकर्मक होने पर आत्मनेपद होता है । मेदन्ते—यह ञिमिदा स्नेहने भ्वादि आ० का रूप है ।

४२१. पुष्यति—पुष्प विकसने दिवा० प० का रूप है । कामनीयकम्—कमनीयस्य भावः । 'योपधाद् गुरूपोत्तमाद् वुञ्' (५।१।१३२) से वुञ् प्रत्यय होता है ।

४२२. श्राणः—श्रा पाके का क्तान्त । शुच्यति—ईशुचिर् पूतीभावे

४१८. देवदत्त यज्ञदत्त के पासंग भी नहीं। कहाँ राजा भोज, कहाँ कुबड़ा तेली।

४१९ आचार विषयक आरोप मेरे मर्मों में घाव करता है, और कोई मिथ्या दूषण मुझे इतना नहीं चुभता।

४२०. जो व्यायाम करते हैं वे मोटे नहीं होते और न ही रोगी होते हैं।

४२१. शरद् ऋतु में शाली पकता है, काश फूलती है और कमल खिलते हैं। चन्द्रमा भी अनोखी कान्ति को धारण करता है।

४२२. ग्रीष्म ऋतु में पकी हुई भाजी एक पहर ठहर जाने पर पानी छोड़ देती है और कुछ सड़ जाती है।

४२३. बूढ़ा गाड़ीवान् प्राजन (पैनी) से मार-मार कर भार ढोने में मन्दशक्ति वाले बैलों को हाँकता है।

४२४. वह प्रतिदिन शिथिल हो रही है, न मालूम इसे कौन सा रोग खाये जा रहा है।

४२५. रात को चमकता हुआ चाँद किसे नहीं भाता, कामी और चोर को छोड़ कर।

इस दिवा० प० धातु का रूप है। पूतीभावः=क्लेदः। पूयते—यह पूयी विशरणे भ्वा० आ० का रूप है।

४२३. प्रवयाः—प्रवृद्धं वयो यस्य सः। प्राजिता—प्रपूर्वक 'अज गतिक्षेपणयोः' इस से तृन् वा तृच् करके रूपनिष्पत्ति होती है। प्राजनम्—प्रवीयतेऽनेनेति। प्राज्यतेऽनेनेति नहीं कह सकते। 'अजेर्व्यघञपोः' (२।४।५६) से 'अज्' को 'वी' हो जाता है। प्राजनं तोदनं तोत्रम्—अमर। ऋषभतरान्—ऋषभा अनड्वाहः। भारवहने मन्दशक्तय ऋषभाः=ऋषभतराः। 'वत्सोक्षाश्वर्षभेभ्यश्च तनुत्वे' (५।३।९१) से ष्टरच् प्रत्यय होता है।

४२५. कस्य न प्रियः—प्रीणातीति प्रियः, कः प्रत्ययः। 'कस्य' में कृद्योगलक्षणा षष्ठी है।

४२६. क्रमते तस्य बुद्धिर्ऋक्षु नत्वन्याये तु सज्जते।

४२७. य उत्पन्नभक्षिणस्तेऽन्तेऽवसीदन्ति।

४२८. यदाऽहं लोके हिंसामुत्तरोत्तरं वर्धमानां लक्षये तदा नाशंसे लौकिकाय शमाय।

४२९. यां सिक्थकवर्तिरिति वेत्थ सा वसादशा भवति।

४३०. ग्लानोऽयं जनो मन्दमन्दं क्रामति वाचा च सज्जमानया कथंचिद् ब्रवीति।

४३१. अतिवृष्टेश्छदिरस्य सदनस्य प्रश्च्योतति, येनातङ्कामः।

४३२. सर्वरात्रं धारासारैर्वृष्टो देवः, अभिषिक्तश्च गृहेऽन्तः सर्वः परिवर्हः।

४३३. कर्दति मे कुक्षिः, किंचिद् व्यथते च। वातोपि प्रकुप्यति मात्रया।

---

४२६. क्रमते—यहाँ 'वृत्तिसर्गतायनेषु क्रमः' (१।३।३८) से वृत्ति (अप्रतिबन्ध=रुकावट का अभाव) अर्थ में क्रम् से आत्मनेपद होता है। सज्जते—यहाँ भाष्यकार के प्रयोग से आ० साधु है। रुकने अर्थ में सज्ज् का प्रयोग श्रीरामायण में बहुत देखा जाता है—वाचा सज्जमानया।

४२८. शमाय आशंसे—आङ् शंस् के प्रयोग में जिस वस्तु की आशा की जाती है उस में द्वितीया तथा चतुर्थी का व्यवहार देखा जाता है। तदा नाशंसे विजयाय संजय (महाभारत आ०)। आशंसन्ते···धनुषि विजयं पौरुहूते च वज्रे (शाकुन्तल २।१६)।

४३०. मन्दमन्दम्—'प्रकारे गुणवचनस्य' (८।१।१२) से मन्द शब्द द्विरुक्त होता है। 'कर्मधारयवदुत्तरेषु' (८।१।११) से कर्मधारयवद्भाव होता है,

४२६. उसकी बुद्धि ऋचाओं में खूब चलती है, पर नव्य न्याय में रुक जाती है।

४२७. जो जितना कमाते हैं, उतना ही खा लेते हैं वे अन्त में दुःख पावे हैं।

४२८. जब मैं देखता हूँ कि लोक में हिंसा उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है तो मुझे संसार की शान्ति की कोई आशा नहीं रहती।

४२९. जिसे तू मोम की बत्ती समझे बैठा है, वह चरबी की बत्ती है।

४३०. रोग से क्षीण हुआ यह पुरुष धीरे-धीरे पग धरता है और लड़-खड़ाती हुई वाणी से कठिनता से बोलता है।

४३१. अतिवृष्टि के कारण इस मकान की छत टपकती है, जिस से हम तंग आ गये हैं।

४३२. सारी रात मुसलाधार वृष्टि हुई और घर का सारा सामान भीग गया।

४३३. मेरे पेट में गुड़गुड़ हो रही है, कुछ व्यथा भी है और कुछ वात का प्रकोप भी है।

अर्थात् सुप् का लोप, पुंवद्भाव (जैसे पटुपट्वी में) और अन्तोदात्त कार्य होते हैं।

४३१. आतङ्कामः—आङ् पूर्वक तकि कृच्छ्रजीवने भ्वा० प० का रूप है।

४३२. सर्वरात्रम्—सर्वां रात्रिम्। 'अहःसर्वैकदेशसंख्यातपुण्याच्च रात्रेः' (५।४।८७) से अच् समासान्त होता है। 'रात्राह्नाहाः पुंसि' (२।४।२९) से 'सर्वरात्र' पुं० होता है। परिबर्हः—परिच्छदे नृपार्हेऽर्थे परिबर्हः—अमर। अर्थे=वस्तुनि धने वा—क्षीरस्वामी।

४३३. कर्दति—कर्द कुत्सिते शब्दे भ्वादि प०। कुत्सिते कौक्षे इति भट्टोजिः। मात्रया—यहाँ 'प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्' से तृतीया हुई है।

४३४. यदि मांसमश्नासि, नेदं तवोपकरोति, केवलं शास्त्रमतिचर्यते ।

४३५. य इदं ममोपशेते इदं नोपशेते इति विविच्यान्नमश्नाति स नो अभ्यमति ।

४३६. यदि कश्चिन्निशाम्यति मित्रं मे मां सूचयति तदा भृशं दुःख्यति ।

४३७. पित्तलमम्लमन्यत्र दाडिमामलकात् ।

४३८. न हि स आतुरः, आतुरलिङ्गी स भवति ।

४३९. यज्ञे पश्वालम्भः श्रेयसामर्थे पापीयानारम्भ इति पश्यामः । अपरेऽत्र विप्रतिपद्यन्ते ।

४४०. अद्यापि कुमारयन्तीमे कुमारा आक्रीडिनः पाठेष्वनवहिताः ।

४४१. मन्दं मन्दं वारिकणिका वर्षति वारिवाहः । ह्रसितमुष्णम् ।

---

४३४. अतिचर्यते—अतिक्रम्यते, उल्लङ्घ्यते ।

४३५. ममोपशेते—यहाँ उप शी (ङ्) सात्म्य (अनुकूल) होने अर्थ में है । अभ्यमति—अभिपूर्वक अम रोगे भ्वा० प० का रूप है । छन्द (वेद) में शप् का लुक् होने पर 'तुरुस्तुशम्यमः सार्वधातुके' (७।३।९५) से ईट् का आगम होकर 'अभ्यमीति' रूप भी होगा । 'नो' ओदन्त निपात है ।

४३६. निशाम्यति—निपूर्वक शमु उपशमे दिवा० प० का रूप है । उपसर्गवश सुनना अर्थ हुआ और धातु सकर्मक हो गई । मां सूचयति—मां परस्मै कथयति, मद्विषये पैशून्यवचो ब्रूते । सूच पैशुन्ये चुरादि । पिशुनौ खलसूचकौ—इस प्रमाण से सूचक = पिशुन । दुःख्यति—दुःख सुख तत्क्रियायाम् कण्ड्वादिगण की धातु है । दुःखमनुभवति = दुःख्यति ।

४३७. पित्तलम्—पित्तमस्यास्तीति । 'सिध्मादिभ्यश्च' (५।२।९७) से मत्वर्थ में लच् प्रत्यय हुआ है ।

४३४. यदि तू मांस खाता है तो इस से तुझे कुछ लाभ नहीं, केवल शास्त्र का उल्लंघन होता है।

४३५. जो यह मेरे अनुकूल है, यह अनुकूल नहीं इस बात का विचार कर खाता है वह रोगी नहीं होता।

४३६. यदि कोई सुनता है कि मेरा मित्र मेरी चुगली करता है तो वह बहुत दुःखी होता है।

४३७. सभी खट्टे पदार्थ गरमी करने वाले होते हैं, अनार और आमले को छोड़ कर।

४३८. वह बीमार नहीं, बीमार होने का बहाना करता है।

४३९. यज्ञ में पशुवध कल्याणार्थ पाप कर्म है ऐसा हमारा विचार है। दूसरे लोग इस में मतभेद रखते हैं।

४४०. अब भी क्रीडा-रसिक ये लड़के खेल रहे हैं, इन्हें अपनी पढ़ाई का कुछ भी ध्यान नहीं।

४४१. धीरे-धीरे नन्ही नन्ही बूंदें पड़ रही हैं। गरमी कम हो गई है।

---

४३८. आतुरलिङ्गी—तुर त्वरणे इस जुहोत्यादि छान्दस धातु से 'क' प्रत्यय और आङ् आने पर आतुर रूप सिद्ध होता है—आतुतोर्ति इत्यातुरः। ईषत् त्वरत इत्यर्थः। आतुरस्य लिङ्गमिव लिङ्गमस्येति आतुरलिङ्गी।

४४०. कुमारयन्ति—कुमार क्रीडायाम् चुरादि का रूप है। आक्रीडिनः—आक्रीडितुं शीलमेषाम्। 'सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये' (३।२।७८) से णिनि प्रत्यय होता है। सुप् से उपसर्ग का भी ग्रहण होता है, ऐसा भट्टोजि दीक्षित का मत है।

४४१. मन्दं मन्दम्—यहाँ वीप्सा में द्विरुक्ति है, प्रकार अर्थ विवक्षित नहीं, अतएव कर्मधारयवद्भाव नहीं हुआ, जैसा कि मेघदूत में 'मन्दं मन्दं नुदति पवनः' इस प्रयोग में। उष्णम्—यह भावप्रधान निर्देश है। उष्णम् =औष्ण्यम्। ऐसे निर्देश में भगवान् सूत्रकार का 'द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने' (१।४।२२) में द्वि और एक शब्द का द्वित्व और एकत्व अर्थ में प्रयोग ज्ञापक है।

४४२. यदा भूः कम्पते तदा क्वचिदियमुदञ्चति, क्वचिन्न्यञ्चति, क्वचिन्महागर्ताः संजायन्ते जलं च प्रस्रवति ।

४४३. अवस्तीर्यते नभस्तलं वारिदैः, ह्रादते च ह्रादिनी ।
४४४. अमूर्छन्निशि तमः पथश्चाभ्रंशामहि ।
४४५. य आत्मना व्यकत्थन्त तेऽध्वंसन्त ।
४४६. सूर्योढस्य यात्रिण आरण्यका निकाममातिथ्यमन्वतिष्ठन् ।

४४७. तदा मां निद्रा नागच्छत्, चिरमहं नेत्रे निमील्य शयनीये न्यपद्ये, रणरणकदायिनं तमेव पूर्वव्यतिकरं चास्मरम् ।
४४८. सुचिरं व्यचरं भुवम्, तेन विजानामि विचित्रस्यास्य सर्गस्य सौन्दर्यम् ।
४४९. ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च तथा तरसाऽभ्यहन्यन्त यथा सुदूरेऽपि स्थितानां नः श्रोत्रयोरमूर्छच्छब्दः ।
४५०. क्रमेणाजीर्याम करणवैकल्यं चायाम ।
४५१. ह्यः शैत्यादतितरां प्रतिशीनोऽभवं जूर्णश्च, भ्रान्तिश्च मे शिरसोऽभूत् ।

---

४४४. अमूर्छत्—'मुर्छा मोहसमुच्छ्राययोः' इस भ्वादि प० धातु का समुच्छ्राय (वृद्धि) अर्थ में प्रयोग है ।

४४५. आत्मना व्यकत्थन्त—कत्थ श्लाघायाम् भ्वा० आ० । इस धातु का प्रयोग आत्मश्लाघा में ही देखा जाता है, परश्लाघा में नहीं । आत्मना—यह करण-तृतीयान्त है । अपने आप अपनी स्तुति करता है, ऐसी विवक्षा है । इस अर्थ में द्वितीयान्त 'आत्मानम्' का प्रयोग नहीं होता । ऐसा प्रतीत होता है कि वह (कर्म) धात्वर्थ से उपसंगृहीत हो जाता है ।

४४६. सूर्योढस्य—सूर्येण ऊढः प्रापितः (वसतिम्) इति । आरण्यकाः—'अरण्यान्मनुष्ये' (४।२।१२९) से वुञ् प्रत्यय होता है ।

४४२. जब भूचाल आता है तब पृथिवी कहीं पर उभर आती है, कहीं पर धस जाती है। कहीं पर बड़े गढ़े बन जाते हैं और पानी निकल पड़ता है।

४४३. आकाश बादलों से घिर गया है और बिजली कड़क रही है।

४४४. रात को अन्धेरा छा गया और हम रास्ता भूल गये।

४४५. जिन्होंने आत्मश्लाघा की, वे नष्ट हुए।

४४६. सूर्यास्त समय आये हुए आगन्तुक की अरण्यनिवासियों ने अच्छी तरह अतिथि सेवा की।

४४७. तब मुझे नींद नहीं आई। चिर तक आँखें बन्द कर बिस्तरे पर पड़ा रहा, उसी चिन्ताजनक वृत्तान्त का स्मरण करता रहा।

४४८. मैं बहुत घूमा हूँ, इसलिये इस नानारूप जगत् के सौन्दर्य को खूब जानता हूँ।

४४९. तब शंख और ढोल इस ज़ोर से बजे कि बहुत दूर खड़े हुए हमारे कानों में शब्द स्पष्ट सुनाई देता था।

४५०. धीरे-धीरे हम बूढ़े हो गये और इन्द्रिय-दुर्बलता को प्राप्त होगये।

४५१. कल शीत के कारण मुझे जुकाम हो गया और ज्वर भी आ गया, और सिर भी चकराने लगा।

---

४४७. न्यपद्ये—निपूर्वक पद् का अर्थ लेटना है।

४४८. भुवम्—'देशकालाध्वगन्तव्याः कर्मसंज्ञा ह्यकर्मणाम्' इस वचन से 'भू' की कर्मसंज्ञा हुई। वि पूर्वक चर् अकर्मक है।

४४९. अभ्यहन्यन्त—अभि पूर्वक हन् का अर्थ ताडना, पीटना है। तरसा—अव्यय। अमूर्छत्—मूर्छा का अर्थ समुच्छ्राय (बढ़ना) है। यहाँ इतना बढ़ना कि सुस्पष्ट सुनाई देना इस अर्थ में उपचरित होता है।

४५१. प्रतिशीनः—प्रतिपूर्वक श्यैङ् गतौ भ्वा० आ० से निष्ठा (क्त) प्रत्यय परे होने पर रूप है। 'प्रतेश्च' (६।१।२५) से यहाँ श्यैङ् को सम्प्रसारण होता है। 'श्योऽस्पर्शे' (८।२।४७) से निष्ठा तकार को नकार होता

४५२. आसारैरवर्षद् देव इति नाहमाशीयो गेहात् प्रयातुमुदसहे।
४५३. लुण्टाका उद्बध्य मार्यन्तामित्यादिशन्नधिकृताः।

४५४. यदैकागारिको गृहपतिं जागरितमपश्यत्तदा भीतवत् सहसापाक्रामत्।
४५५. यदि तेऽसन्मार्गमभिनिवेक्ष्यन्तेऽवश्यं प्रलेष्यन्ते।
४५६. आशङ्के क्षतानि ते चिरेण संरोक्ष्यन्ति। अदूरे च वर्षाः। वर्षासु च तथाजातीयकानि व्रणानि विक्रियन्ते।
४५७. एवं लोके लाघवं यास्यसि। बहुमतस्य लाघवं नाम मरणपर्यायः।
४५८. यदि सोऽनूचीनानि षडहानि नोपस्थास्यते पाठेषु तदा तीव्रं शासिष्यते।
४५९. पूर्वं क्षुरं निश्य ततः कूर्चं वप।
४६०. ज्वलतोऽङ्गारानेकैकशः कङ्कमुखेन धारय, समुह्य च वारिणा शमय।

है। जूर्णः—ज्वर् का निष्ठान्त रूप है। 'आदितश्च' (७।२।१६) में 'च' अनुक्त समुच्चय के लिये है ऐसा काशिकाकार कहते हैं। इस से आश्वस्तः, वान्तः, जूर्णः इत्यादि प्रयोगों में इडभाव उपपन्न हो जाता है, अन्यथा इट् का निषेध करने वाला कोई शास्त्र नहीं। 'ज्वरत्वर—' (६।४।२०) से व् और उपधा के स्थान में ऊठ् होता है।

४५२. आसारैः—धारासम्पात आसारः—अमर। आशीयः—आशु-तरम्। क्रियाविशेषण।

४५४. ऐकागारिकः—यह 'ऐकागारिकट् चौरे' (५।१।११३) में निपातन किया है।

४५५. अभिनिवेक्ष्यन्ते—अभि नि पूर्व विश् का रूप। 'नेर्विशः' (१।३।१७) से आ०, 'अभिनिविशश्च' (१।४।४७) से अधिकरण (असन्मार्ग)

४५२. मुसलाधार वृष्टि हुई अतः मैं जल्दी घर से नहीं चल सका।

४५३. लुटेरों को फाँसी लटकाया जाय ऐसा अधिकारियों ने आदेश दिया।

४५४. जब चोर ने देखा कि घर का स्वामी जाग उठा है तब वह डर के मारे एक दम भाग गया।

४५५. यदि वे कुमार्ग में लगे रहेंगे तो अवश्य नष्ट हो जायेंगे।

४५६. मुझे डर है तुम्हारे घाव चिर से भरेंगे। और बरसात आने वाली है। बरसात में इस प्रकार के व्रण बिगड़ जाते हैं।

४५७. इस प्रकार तू लोक में अपमान को प्राप्त होगा। आदर प्राप्त किये हुए का अपमान मृत्यु का ही दूसरा नाम है।

४५८. यदि वह लगातार छः दिन अपने पाठों में उपस्थित नहीं होगा तो उसे तीव्र दण्ड दिया जायगा।

४५९. पहले उस्तरे को तेज कर लो, फिर दाढ़ी मूँडो।

४६०. जलते हुए कोयलों को चिमटे से पकड़ो, इन्हें इकट्ठे करके पानी से बुझा दो।

की कर्मसंज्ञा होती है।

४५६. संरोक्ष्यन्ति—सम्पूर्वक रुह् का लृट्।

४५७. मरणपर्यायः—मरणस्य पर्यायः पर्यायवचनः, नामान्तरम्।

४५८. अनूचीनानि—अनुक्रमेण भवानि, अव्यवहितानि=लगातार। अन्वगेव=अनूचीनम्। 'विभाषाञ्चेरदिक् स्त्रियाम्' (५।४।८) से स्वार्थ में 'ख' प्रत्यय होता है।

४५९. निश्य—शो तनूकरणे दिवा० प० का लोट् म० पु० एक०। 'नि' उपसर्ग है।

४६०. समुह्य—सम्पूर्वक 'ऊह वितर्के' का ल्यबन्त रूप है। 'उपसर्गाद् ध्रस्व ऊहतेः' (७।४।२३) से धातु को ह्रस्व हुआ। उपसर्गवश अर्थान्तर हुआ।

४६१. धर्मे ते धीयतां धीः सत्ये च निस्तिष्ठतु ।
४६२. बाला मद्वचनाल्लालनीया वृद्धाश्च नमो वाच्याः ।
४६३. इहैवोपानहाववमुञ्च, नातः परं देवतायतनभूभागे प्रतिमुक्तोपानत्को गन्तुमर्हसि ।
४६४. आश्चर्यमन्धो नाम लेखिष्यति पठिष्यति च । पुरा तु नास्य संभवोऽभूत् ।
४६५. अपि गगनं पतेत्, तिग्मांशुर्वा शीततामियात्, हिमवान्वा हिमं जह्यात्, सागरो वा वेलामतीयात्, मद्वचनं तु न विपरीयात् ।
४६६. शरीरे चेदादतोऽभविष्यन्नोपतप्तोऽभविष्यत् ।
४६७. उत त्वं मार्गेणानेन यान्तं शकटमद्राक्षीः ? नाहमदर्शम्, अन्यत्रमना अभूवम् ।
४६८. अहं सर्वात्मनाऽयतिषि, सिद्धिस्त्वीश्वरेऽधि ।

---

४६१. निस्तिष्ठतु—निश्चितं तिष्ठतु । निस् पूर्व स्था धातु का अर्थ निष्ठा (=निश्चित स्थिति) रखना है । ध्यान रहे इस अर्थ में निस् उपसर्ग का प्रयोग होता है, नि का नहीं । निष्ठा में भी निस् उपसर्ग है । निस् के 'स्' को विसर्ग होकर उसका 'खर्परे शरि विसर्गलोपो वा वक्तव्यः' इस वार्तिक से लोप हो जाता है । यह लोप 'उपसर्गात्सुनोतिसुवति—' (८।३।६५) इस मूर्धन्य (ष्) विधायक शास्त्र के लिये सिद्ध है, अतः 'नि-स्था' इस अवस्था में 'ष्' होकर 'निष्ठा' रूप सिद्ध होता है ।

४६२. मद्वचनात्—मद्वचनमाश्रित्य । 'ल्यब्लोपे कर्मण्युपसंख्यानम्' इस वार्तिक से कर्म में पञ्चमी हुई ।

४६३. अवमुञ्च—अव मुच् का अर्थ उतारना है और प्रतिमुच् तथा आ (ङ्) मुच् का पहनना, धारण करना है । प्रतिमुक्तोपानत्कः—प्रतिमुक्ते उपानहौ येन सः । 'उरःप्रभृतिभ्यः कप्' (५।४।१५१) से 'कप्' समासान्त होता है ।

४६१. धर्म में तेरा मन लगे और सत्य में निष्ठा वाला हो ।

४६२. बच्चों को मेरी ओर से प्यार देना और बड़ों को नमस्कार कहना ।

४६३. जूता यहीं उतार दो, इस से आगे देवालय की भूमि में जूता पहने नहीं जा सकते हो ।

४६४. आश्चर्य है अन्धा लिखता और पढ़ता है । पहले समय में तो यह असंभव था ।

४६५. चाहे आकाश गिर जाय, चाहे सूर्य शीतल हो जाय, चाहे हिमालय हिम को छोड़ दे, चाहे समुद्र अपनी मर्यादा को लाँघ जाय, पर मेरा वचन विपरीत न होगा ।

४६६. यदि वह शरीर का ख्याल रखता तो बीमार न होता ।

४६७. क्या तुम ने इस मार्ग से जाते हुए छकड़े को देखा ? मैंने नहीं देखा, मेरा मन किसी दूसरी ओर था ।

४६८. मैं ने भरसक यत्न किया, पर सिद्धि ईश्वर के अधीन है ।

---

४६४. लेखिष्यति, पठिष्यति—यहाँ चित्रीकरण गम्यमान होने पर 'शेषे लृडयदौ' (३।३।१५१) से सर्वलकारापवाद धातुमात्र से लट् होता है, यदि 'यदि' का प्रयोग न हो ।

४६५. पतेत्—इत्यादि में 'संभावनेऽलमिति चेत्सिद्धाप्रयोगे' (३।३। १५४) से लिङ् हुआ है । विपरीयात्—विपरि पूर्वक इण् गतौ का विधिलिङ् में रूप । =विपरि इयात् । अपि शब्द संभावना का द्योतक है ।

४६६. आदृतः—यहाँ कर्ता अर्थ में क्त हुआ है । आदृतौ सादरार्चितौ—अमर । उपतप्तः—उप पूर्वक तप् का कर्मवाची प्रत्यय (तिङ्, कृत्) होने पर रोगी होना अर्थ है । कर्तृवाची प्रत्यय परे होने पर दुःख देना, रोगयुक्त करना अर्थ है ।

४६७. उत—यह प्रश्नार्थक अव्यय है ।

४६८. सर्वात्मना=सर्वेण शरीरेण । 'आत्मन्' का शरीर अर्थ आध्यात्मिकं दुःखम्, महात्मा (महाकायः) रावणः इत्यादि प्रयोगों में प्रसिद्ध है ।

४६९. मा दुषद् इति श्रीणीहि पयः ।
४७०. किं श्टतं क्षीरेण ? अङ्ग श्राति पयः ।
४७१. परार्थं माऽभिध्यासीः । अभिध्यामपि पापमाहुर्मनीषिणः ।

४७२. अवसायय सपदि स्वा गिरः । उद्विजन्ते श्रोतारः ।
४७३. दृढं श्रान्तोऽस्मि । कंचित्कालं संविविक्षामि । शयनीयं विरचयेति प्रेष्यं प्रचोदय ।
४७४. ये समीत्संन्ति तैर्नियतैः प्रयतैश्च भवितव्यम् ।

४७५. यदाऽहं तस्य भाषितं परिभावयामि तदा नात्र बहुगुणं विभावयामि ।
४७६. यदि स पाने प्रसङ्क्ष्यति ध्रुवं निराकरिष्यते ।

'आत्मन्' का यह अर्थ कैसे हुआ, इसे हम अपनी कृति 'पदार्थविकासः' में कहेंगे । ईश्वरेऽधि—'अधिरीश्वरे' (१।४।९७) से 'अधि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हुई । 'यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी' (२।३।९) से 'ईश्वर' शब्द से सप्तमी हुई ।

४६९. मा दुषत्—दुष वैकृत्ये दिवा० का माङ् उपपद होने पर लुङ् । पुषादि होने से अङ् । श्रीणीहि—श्रीञ् पाके क्रयादि का लोट् । यह सकर्मक है । इस में 'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्' (ऋ० ९।४६।४) यह मन्त्र प्रमाण है ।

४७०. शृतं क्षीरेण—'श्रृतं पाके' (६।१।२७) यह व्यवस्थित विभाषा है । क्षीर अथवा हविः का पाक हो तो नित्य ही 'श्रा' को श्रृभाव होता है । श्राति—श्रा पाके—यह अदादि प० धातु अकर्मक है, यह इस सूत्र की वृत्ति में स्पष्ट है ।

४७१. माऽभिध्यासीः—ध्यै चिन्तायाम्—लुङ् । अभिध्यानं सतृष्णं परकीयार्थस्यावलोकनम् ।

४६९. दूध बिगड़ न जाय, इसलिये इसे पका लो।

४७०. क्या दूध पक गया है, आर्य दूध अभी पक रहा है।

४७१. दूसरों की चीज़ लेने का ध्यान मत कर। ऐसा ध्यान भी पाप है, यह बुद्धिमानों का कहना है।

४७२. अपना भाषण जल्दी समाप्त कीजिये। श्रोता लोग घबरा रहे हैं।

४७३. मैं बहुत थक गया हूँ, कुछ समय सोना चाहता हूँ। नौकर से कहो मेरे लिये बिस्तरा लगा दे।

४७४. जो समृद्ध होना चाहते हैं उन्हें नियमवान् और पवित्र होना चाहिए।

४७५. जब मैं उस के भाषण पर विचार करता हूँ तो उस में बहुत गुण नहीं देखता हूँ।

४७६. यदि वह सुरापान में आसक्त रहेगा, अवश्य जातिपङ्क्ति से बाहिर कर दिया जायगा।

---

४७२. अवसायय—अव पूर्वक षोऽन्तकर्मणि+णिच् का लोट्।

४७३. दृढम्—भृशम्। 'बाढगाढदृढानि च' ऐसा अमरकोष में भृश (अधिक) के पर्यायों में पाठ है। संविविक्षामि—सम् विश्+सन्।

४७४. समीर्त्सन्ति—सम् पूर्वक ऋध् का सन्नन्त। 'सनीवन्तर्ध—' (७।२।४९) से 'सन्' को इट् विकल्प से होता है, अतः पक्ष में 'समर्दिधिषन्ति' रूप भी होगा। प्रयतैः—प्र पूर्वक यम् का क्तान्त रूप। उपसर्गवश धात्वर्थ में परिवर्तन।

४७५. परिभावयामि = चिन्तयामि। भुवोऽवकल्कने, चुरादि। अवकल्कन=मिश्रीकरण अथवा चिन्तन। विभावयामि—विशेषेण भावयामि। वि-भू-णिच्।

४७६. प्रसङ्क्ष्यति—प्र-सञ्ज् का लृट्। निराकरिष्यते—'प्रत्याख्यातो निराकृतः'—अमर। हर्षचरित में 'निराकृत' जातिबहिष्कृत अर्थ में प्रयुक्त हुआ है जैसे दुर्वासा के प्रति शापोद्यत सावित्री के 'आः पाप, क्रोधोपहत,

४७७. संह्रियतां वचः, त्वरमाणमानसाः सम्प्रति सामाजिकाः ।

४७८. यः कल्ये विहरति स कल्यो भवति ।

४७९. रविरुद्गच्छति, तमश्चापगच्छति, संगत्य च क्वणन्ति कलं शकुन्तयः ।

४८०. आगमयस्व तावन्माणवक, अभित आगच्छन्ति गुरुचरणाः ।

४८१. अद्य कश्चिदस्मद् गृहानभ्यागतः । तस्यातिथ्यं करणीयमिति सत्वरोऽस्मि ।

४८२. ये समुदाचारमुच्चरन्ते तेऽवगीयन्ते ।

४८३. मुक्तावुत्तिष्ठन्ते मुनयः साङ्ख्येन योगेन वा ।

४८४. सुवर्णमावर्तयति स्वर्णकारस्तैजसावर्तन्याम् ।

४८५. किं करोषि? पय आवर्तयामि किलाटं सम्पादयिष्यामीति ।

४८६. अयं रज्जुसृड् एकेनाह्ना तिस्रो रज्जूरावर्तयति ।

४८७. प्रसन्नो ब्राह्मणशेषः, नैष व्याख्यानमपेक्षते ।

४८८. अभ्युच्चितास्तर्काः प्रभावुका भवन्ति ।

दुरात्मन्, अज्ञ, अनात्मज्ञ, ब्रह्मबन्धो, मुनिखेटापसद, निराकृत इत्यादि वचन में । शङ्कर ने अपने 'संकेत' में निराकृत का 'अस्वाध्याय' (स्वाध्यायहीन) अर्थ किया है, पर अमर में तो 'अस्वाध्यायो निराकृतिः' ऐसा पाठ है ।

४७७. सामाजिकाः—समाजं रक्षन्ति इति । सभ्याः ।

४७८. कल्ये—प्रातःकाल में । कल्य—नपुं० । कल्यः—वार्तो निरामयः कल्यः—अमर ।

४८०. अभितः—समीपे काले, शीघ्रं वा । समीपोभयतः शीघ्रसाकल्याभिमुखेऽभितः—अमर । अभितः = अभी । गुरुचरणाः—पूज्या गुरवः । यहाँ चरण शब्द पूजावचन है । मयूरव्यंसकादि तत्पुरुष है । अस्वपदविग्रह होने से नित्य समास है ।

४७७. भाषण को संक्षिप्त कीजिये, सभा उतावली हो रही है।

४७८. जो प्रातः सैर करता है वह नीरोग रहता है!

४७९. सूर्य निकल रहा है, अन्धेरा दूर हो रहा है, पक्षिगण मिलकर मीठा-मीठा शब्द कर रहे हैं।

४८०. हे बाल, धैर्य धरो, गुरु जी अभी आ रहे हैं।

४८१. आज हमारे घर पाहुना आया है, उस का आतिथ्य करना है, अतः मुझे जल्दी है।

४८२. जो शिष्टाचार का उल्लंघन करते हैं उनकी निन्दा होती है।

४८३. मुनि लोग साङ्ख्य अथवा योग मार्ग से मुक्ति के लिये यत्न करते हैं।

४८४. सुनार सोने को मूषा (=कुठिया) में पिघलाता है।

४८५. क्या कर रहे हो। दूध औटा रहा हूँ, खोआ बनाऊँगा।

४८६. यह रस्सी बटने वाला एक दिन में तीन रस्सियाँ बट लेता है।

४८७. ब्राह्मण का शेष भाग विस्पष्ट है, इस के व्याख्यान की आवश्यकता नहीं।

४८८. एकत्र संगृहीत युक्तियाँ (अर्थसाधन में) समर्थ होती हैं।

---

४८१. गृहान्—गृह शब्द बहुवचन में पुं० में भी प्रयुक्त होता है। एक घर के लिए भी बहुवचन प्रयुक्त हो सकता है।

४८२. उच्चरन्ते—उल्लङ्घन्ते। 'उदश्चरः सकर्मकात्' (१।३।५३) से उद् पूर्वक चर् से आत्मने० होता है। अवगीयन्ते = निन्द्यन्ते। अव-गै का निन्दा करना अर्थ है। यथा अनवगीतः परिचयः।

४८३. उत्तिष्ठन्ते—'उदोनूर्ध्वकर्मणि' (१।३।२४) तथा 'उद ईहायाम्' इस वार्तिक से यहाँ उद् पूर्वक स्था धातु से आत्मने० होता है।

४८७. प्रसन्नः = विशदः। प्रसन्ना आपः = विमलं जलम्।

४८८. अभ्युच्चिताः—अभि उद् पूर्वक चि का क्तान्त। अभ्युच्चयः = वृद्धिः। प्रभावुकाः—'लषपतपद—' (३।२।१५४) से उकञ्। प्रभवन्तीत्येवशीलाः।

४८९. नाहं तेऽभिसन्धिमुन्नयामि। निर्भिन्नार्थतरकमुच्यताम्।

४९०. हिन्दुसंस्कृतेः प्रतिपत्तये संस्कृताध्ययनस्य प्रयोजनवत्तां प्रति न मतद्वैधमस्ति।

४९१. दिवं च पृथिवीं चान्तरान्तरिक्षम्।

४९२. अयमतिसारकी, अस्मै लङ्घनं हितम्। रुचिश्चेत्स्यात्तरलं कृशरं मात्रयोपयुञ्जीत।

४९३. न हि मनस्विनो धनात् प्रति यच्छन्ति मानम्।

४९४. ऋद्धिमती बन्धुमती चापीयमशिश्वी मा जीवन्ती द्रावयति चेतांसि सचेतसामवलोककानाम्।

४९५. धानुष्काणां पार्थो वरो बभूव, आसिकानां नकुलः, शाक्तीकानां च सहदेवः।

४९६. आ हिमाचलादा च कन्यान्तरीपात् समुद्रमेखलायामस्यामिलायामध्यशोकः पुराऽभूत्।

---

४९०. मतद्वैधम्—मतस्य द्वौ प्रकारौ। द्वि-त्र्योश्च धमुञ्' (५।३।४५) से 'धा' के स्थान में विकल्प से धमुञ् आदेश होता है। 'धमुञन्तात्स्वार्थे ड-दर्शनम्' इस वचन से ड प्रत्यय हुआ।

४९१. अन्तरा—'अन्तरान्तरेण युक्ते' (२।३।४) से दिवम् और अन्तरिक्षम् में द्वितीया हुई। अन्तरा=मध्ये।

४९२. अतिसारकी—अतिसारोऽस्त्यस्य। 'वातातिसाराभ्यां कुक् च' से कुक् आगम होता है और 'इनि' प्रत्यय। उपयुञ्जीत—'प्रोपाभ्यां युजेरयज्ञपात्रेषु' (१।३।६४) से आत्मनेपद का नियम है। युजिर् योगे उभयपदी है।

४९३. धनात् प्रति—'प्रतिः प्रतिनिधिप्रतिदानयोः' (१।४।९२) से प्रतिदान (बदले में देना) अर्थ में 'प्रति' कर्मप्रवचनीय होता है और इस के योग में 'प्रतिनिधिप्रतिदाने च यस्मात्' (२।३।११) से पंचमी होती है।

४९४. अशिश्वी—'सख्यशिश्वीति भाषायाम्' (४।१।६२) से 'नास्ति

४८९. मैं तुम्हारे अभिप्राय को समझ नहीं सका, खोल कर कहिये।

४९०. हिन्दुसंस्कृति के बोध के लिये संस्कृताध्ययन सार्थक है इसमें मतभेद नहीं।

४९१. द्युलोक और पृथिवी लोक के बीच में अन्तरिक्ष है।

४९२. इसे अतिसार (दस्त) लगे हुए हैं, इस के लिये अनशन अच्छा है। यदि रुचि हो तो थोड़ी सी पतली खिचड़ी ले ले।

४९३. उन्नत मन वाले धन के बदले में मान को नहीं देते।

४९४. समृद्धि और बन्धुओं के होने पर सन्तान-हीन निन्दित (=धिक्कृत=दुःखमय) जीवन व्यतीत करती हुई इस स्त्री को देखने वाले सहृदय लोगों के हृदय पसीज जाते हैं।

४९५. धनुर्धारियों में अर्जुन, तलवार चलाने वालों में नकुल और बर्छी चलाने वालों में सहदेव सब से उत्तम था।

४९६. हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक इस सारी पृथिवी पर महाराज अशोक का अधिकार था।

शिशुरस्याः' इस अर्थ में निपातन किया है। अर्थात् लोक में इस अर्थ में 'अशिशुः' प्रयोग अशुद्ध होगा। मा जीवन्ती—'माङ्याक्रोशे' इस वार्तिक से लट् के स्थान में शतृ होता है। आत्मनेपदी धातु से 'शानच्' भी होगा। मा जीवन्ती=गर्हितं जीवन्ती (कष्ट से जीती हुई)। अव-लोकक:—अव पूर्वक 'लोकृ दर्शने' से ण्वुल्।

४९५. धानुष्काणाम्—धनुः प्रहरणमेषां ते, तेषाम्। 'प्रहरणम्' (४।४।५७) से ठक् प्रत्यय होता है। इस ठक् को 'इसुसुक्तान्तात्कः' (७।३।५१) से 'क' आदेश होता है। आसिकानाम्—यहाँ भी इसी अर्थ में ठक् हुआ है। शाक्तीकानाम्—यहाँ इसी अर्थ में 'शक्तियष्ट्योरीकक्' (४।४।५९) से ईकक् प्रत्यय हुआ है।

४९६. आ हिमाचलात्, आ कन्यान्तरीपात्—यहाँ दोनों जगह आङ् अभिविधि में है। अर्थ है हिमालय और कन्यान्तरीप को व्याप्त करके।

४९७. अहो गर्धोऽस्य लोकस्य । एकोऽपरमर्थाद् वञ्चयितुमीहते ।

४९८. यावदेवाहं तत्रागां तावदेव वृत्तमनुसमधाम्, अबुधं चाभियुक्ता अनागस इति ।

४९९. अहं त्वामसकृदवोचं नाहं मनोऽन्यथयितुं पारये इति ।

५००. आदित्यः पुरस्तादुदेति पश्चादस्तमेतीति मिथ्या कल्पना । न हि तस्योदयास्तमयौ स्तः ।

५०१. कच्चित्कुशली तातः सुखिनी वाऽम्बा ।

५०२. षण्मासजात एष शिशुः । अस्मिन्नपूर्वः कोऽपि परिस्पन्दः ।

५०३. मालाकार ! उत्तमगन्धाढ्या उपत्राः स्रजो मे ग्रथान ।

इलायाम्—पृथिव्याम् । 'गोभूवाचास्त्विडा इलाः'—नानार्थवर्ग में अमर । इलायामधि—कर्मप्रवचनीय अधि शब्द स्वस्वामिसम्बन्ध में प्रयुक्त होता है । इस के योग में कभी स्वामी से सप्तमी आती है, कभी स्व से । यहाँ स्व (=इला) से सप्तमी हुई है ।

४९७. अर्थात्—वञ्चन का अर्थ है दूसरे को चतुराई से उस के धन से पृथक् करना । सो यहाँ अपाय है । अपाय की अवधि 'अर्थ' है । अतः इस से अपादान में पञ्चमी हुई ।

४९८. अगाम्—इण् का लुङ् । अनुसमधाम्—अनुसम् पूर्वक धा धातु का लुङ् । सिच् का लुक् । अबुधम्—बुधिर् बोधने भ्वा० उ० का लुङ् । इरित् होने से अङ् ।

४९९. अन्यथयितुम्—अन्यथाकर्तुम् । तत्करोति तदाचष्टे इति णिच् ।

५००. पुरस्तात्—पूर्वस्यां दिशि । 'दिक्शब्देभ्यः सप्तमीपञ्चमीप्रथमाभ्यो दिग्देशकालेष्वस्तातिः' (५।३।२७) से सप्तम्यन्तपूर्वशब्द से 'अस्ताति' प्रत्यय होता है । 'अस्ताति च' (५।३।४०) से 'पूर्व' को 'पुर्' आदेश होता है ।

४९७. अहो लोगों में कितना लालच है। एक दूसरे के धन को ठगना चाहता है।

४९८. ज्यों ही मैं वहाँ पहुँचा त्यों ही मैं ने वृत्तान्त की पड़ताल की और यह जाना कि दोष से लाञ्छित लोग निरपराध हैं।

४९९. मैंने तुम से बार-बार कहा कि मैं अपने विचार को बदल नहीं सकता।

५००. सूर्य पूर्व में उदित होता है और पश्चिम में अस्त होता है, यह मिथ्या कल्पना है। वस्तुतः उसका न उदय होता है और न अस्त।

५०१. मैं आशा करता हूँ पिता जी और माता जी राज़ी-खुशी हैं।

५०२. यह छः महीने का बच्चा है। इस में अपूर्व स्फूर्ति है।

५०३. हे माली, उत्तम गन्धयुक्त कोई तीन मालाएँ मेरे लिये गूँथो।

पश्चात्—अपरस्यां दिशि। 'अस्ताति' के अर्थ में 'पश्चात्' (५।३।३२) से निपातन किया है। उदयास्तमयौ—अस्तमयः=अस्तंगमनम्। 'अस्तम्' यह मकारान्त अव्यय है। हाँ 'अस्ताचल' में 'अस्त' अदन्त पुँ० है। यह पर्वत का नाम है।

५०१. कच्चित्—'कामप्रवेदन=इच्छा प्रकट करना' अर्थ में प्रयुक्त होता है। तात्पर्य में 'इष्ट-परिप्रश्न' में प्रयुक्त देखा जाता है। माता-पिता का कुशल उसे इष्ट है, तद्विषय में पूछता है।

५०२. षण्मासजातः—षण् मासा जातस्यास्य। 'कालाः परिमाणिना' (२।२।५) से तत्पुरुष समास होता है। इसी सूत्र पर पढ़े हुए 'उत्तरपदेन परिमाणिना द्विगोः सिद्धये बहूनां तत्पुरुषस्योपसंख्यानम्' इस वार्तिक से त्रिपद तत्पुरुष होता है, और सभी तत्पुरुष द्विपद होते हैं। द्वे अहनी जातस्य यस्य स द्व्यह्नजातः।

५०३. उपत्राः—त्रयाणां समीपे ये वर्तन्ते ते, ततः स्त्रीत्वविवक्षा में 'उपत्र' शब्द से टाप्। 'उपत्रि' से 'बहुव्रीहौ संख्येये डजबहुगणात्' (५।४।७३) से डच् समासान्त होता है।

५०४. मेधावी क्षिप्रं स्मरति चिरं च धारयति ।

५०५. सूचिभेद्ये नैशे तमसि गच्छतां नः पदानि विषमीभवन्ति ।
५०६. अभ्यागारिक एव तपस्वी कार्यान्तराण्यात्ययिकान्यपि कर्तुं कालं न लभते ।
५०७. नाऽस्य जन्मनः खालित्यम् । इदं ह्यस्येन्द्रलुप्तकं कालिक्या रुजा समजनि ।
५०८. पिपासुना नादेयं जलं नादेयम् । न हि स्यन्दत इत्येतावता सर्वं पाथः पेयं भवति ।
५०९. स मे प्रातिवेश्यो न भवति, यद्यप्यारातीयः ।
५१०. न केवलमसावधार्मिको भवत्याधर्मिकोऽपि ।
५११. सर्वंपथीनाऽस्य धिषणा । धुर्योऽयं विदुराणाम् ।
५१२. अलमतिविस्तरेण, समासेनोच्यताम् ।

---

५०५. सूचिभेद्ये—सूच्या भेद्ये । ऐसा कहने में अन्धकार की घनता अभिप्रेत है । भर्तृहरि ने सुभाषितत्रिशती में इसी अर्थ में 'असूचिसंचारे' ऐसा प्रयोग किया है ।

५०६. अभ्यागारिकः—अभितोऽगारे भवः । आत्ययिकानि—अत्ययो विनाशः प्रयोजनमेषाम्, विलम्बासहानीत्यर्थः । 'प्रयोजनम्' (५।१।१०९) से ठञ् प्रत्यय होता है ।

५०७. खालित्यम्—खलितस्य भावः । ष्यञ् । कालिक्या—प्रकृष्टः कालोऽस्या इति कालिकी । 'प्रकृष्टे ठञ्' (५।१।१०८) से ठञ् प्रत्यय होता है । स्त्रीत्व विवक्षा में ङीप् ।

५०८. नादेयं जलम्—नद्यां भवं नादेयम् । 'नद्यादिभ्यो ढक्' (४।२।९७) से शैषिक ढक् प्रत्यय होता है । नादेयम्—न आदेयम् । आङ् दा से 'अचो यत्' (३।१।९७), ईद् यति' (६।४।६५) से रूप-सिद्धि होती है ।

५०४. जो मेधावी होता है वह शीघ्र स्मरण कर लेता है और चिर तक स्मरण रखता है।

५०५. गाढ अन्धकार में चलते हुए हमारे पाओं लड़खड़ा जाते हैं।

५०६. कुटुम्ब-पालन में आसक्त यह बेचारा गृहस्थ अत्यावश्यक कार्यों को करने के लिये भी समय नहीं पाता।

५०७. यह इस का गंज जन्म से नहीं, यह तो चिर-रोग के कारण हुआ है। इसे इन्द्रलुप्तक कहते हैं।

५०८. पिपासु को नदी का जल नहीं पीना चाहिये। सभी पानी बहने के कारण से ही पीने योग्य नहीं हो जाता।

५०९. वह मेरा अनन्तरगृहवासी पड़ोसी नहीं, यद्यपि पड़ोस में रहता है।

५१०. यही नहीं कि वह धर्म नहीं करता, अधर्म भी करता है।

५११. इस की बुद्धि सर्वतोगामिनी है। यह विद्वानों में सर्वश्रेष्ठ है।

५१२. बहुत विस्तार न कीजिये, संक्षेप से कहिये।

---

५०९. प्रातिवेश्यः—प्रतिवेशे भवः = प्रतिवेश्यः, स एव प्रातिवेश्यः। स्वार्थेऽण्। आरातीयः—आराद्भवः। वृद्धाच्छः।

५१०. अधार्मिकः—धर्मं चरतीति धार्मिकः। न धार्मिकः=अधार्मिकः। नञ्समास। आधर्मिकः—'अधर्माच्चेति वक्तव्यम्' इस वार्तिक से अधर्मं चरतीति। इस विग्रह वाक्य के आश्रित तद्धित प्रत्यय की उत्पत्ति होती है। अधर्म = पाप।

५११. सर्वपथीना—'तत्सर्वादेः पथ्यङ्गकर्मपत्रपात्रं व्याप्नोति' (५।२।७) से 'ख' प्रत्यय होता है। सर्वान्पथो व्याप्नोति। विदुराणाम्—'विदिभिदिच्छिदेः कुरच्' (३।२।१६२) से विद् (जानना) से ताच्छील्य अर्थ में कुरच् प्रत्यय।

५१२. अलम् = न। अलं भूषणपर्याप्तिशक्तिवारणवाचकम्—अमर। अतिविस्तरेण—यहाँ करण में तृतीया हुई है। गम्यमान क्रिया सिध्यति आदि का 'अतिविस्तर' करण है।

५१३. अस्यागारस्यायामं विस्तारं च तावदवैमि । कियान-
स्योच्छ्राय इति न वेद्मि ।
५१४. विद्यासंस्कृता अपि दुर्जनाः संचक्ष्याः । वाङ्मात्रेणापि ते
नार्च्याः ।
५१५. अस्ति मे पारिणाह्यं वाह्यं वह्यं नास्ति ।
५१६. वञ्च्यं वञ्चन्ति वणिजः ।
५१७. कथमहमात्मनो दुःखमपकर्षामि सुखं च प्रकर्षामि ?
५१८. आयुष्यः सायम्प्रातिको विहारः । कोत्र सांशयिकः ?

५१९. अमण्डितभद्रेण वेषेण तमहं छात्रं पश्यामि कमण्डलुना च ।

५२०. ये पराभ्युदये सेर्ष्यास्ते मूढाः । न तेषां सुखसंवित्तिरस्ति ।

५२१. कार्यतात्पर्यं ते स्तवीमि सारल्यं च । गुरुषु विनय-
स्तेऽभ्यधिको गुणः सुभगंकरणः ।

५२२. *किं हरिणका अपि केसरिणः प्रार्थयन्ते ।
५२३. एष कार्यभारो मम । तथापीमं प्रयतिष्ये घटयितुम् ।

---

५१४. संचक्ष्याः—वर्जनीयाः । चक्षिङ् को यहाँ ख्याञ् आदेश नहीं होता । 'वर्जने प्रतिषेधो वक्तव्यः' यह वार्तिक निषेध करता है ।

५१५. वाह्यम्—वह्—ण्यत् । वह्यम्—'वह्यं करणम्' (३।१।१०२) से करण अर्थ में यत् प्रत्यय होता है । वहत्यनेन इति वह्यं शकटम् ।

५१६. वञ्च्यम्– वञ्चु चञ्चु तञ्चु इत्यादि दण्डक पठित धातु वञ्च् गत्यर्थक है । वञ्च्यम् = गन्तव्यम् ।

५१८. आयुष्यः—आयुषे हितः । सायम्प्रातिकः—सायम्प्रातर्भवः । कालाट्ठञ् । 'अव्ययानां भमात्रे टिलोपः' से 'प्रातर्' के टि 'अर्' का लोप ।

५१३. इस कमरे की लम्बाई और चौड़ाई तो मैं जानता हूँ, ऊँचाई कितनी है, यह नहीं जानता।

५१४. दुर्जन चाहे विद्याविभूषित हो तो भी उस का परित्याग करना चाहिये, वाणी मात्र से भी उस का आदर नहीं करना चाहिये।

५१५. मुझे घर का सामान ढोना है, वाहन नहीं है।

५१६. बनिये अपने गन्तव्य स्थान को जा रहे हैं।

५१७. मैं अपने दुःख को कैसे कम करूँ और सुख को कैसे बढ़ाऊँ?

५१८. प्रातः व सायं की सैर आयुवृद्धि के लिये हितकर है। इस में किसे सन्देह है?

५१९. बिना सजावट सुन्दर वेष से तथा कमण्डलु से पहचानता हूँ कि वह छात्र है।

५२०. जो दूसरों के अभ्युदय में ईर्ष्या करते हैं वे मूर्ख हैं, उन्हें सुख का अनुभव नहीं होता।

५२१. मैं तेरी कार्य में लगन और सरलता की सराहना करता हूँ। गुरुओं के प्रति नम्रता यह एक अधिक गुण है जो तुझे सुन्दर बना रहा है।

५२२. क्या (कभी) हिरनों के बच्चे भी सिंहों पर धावा करते हैं?

५२३. यह कार्य मेरे लिये दूभर है, तो भी इसे करने का यत्न करूँगा।

सांशयिकः—संशयापन्नमानसः—अमर। 'संशयमापन्नः' (५।१।७३) से ठञ्।

५२१. कार्यतात्पर्यम्। तत्परम् अस्येति तत्परः, तस्य भावः तात्पर्यम्। ष्यञ्। कार्ये तात्पर्यम्। स्तवीमि—'तुरुस्तुशम्यमः—' (७।३।९५) से ईट् का आगम विकल्प से होता है। सुभगंकरणः—'आढ्यसुभगस्थूलपलितनग्नान्ध-प्रियेषु—' (३।२।५६) से च्व्यर्थ में ख्युन् प्रत्यय होता है। असुभगः सुभगः क्रियतेऽनेनेति।

५२३. कार्यभारः—भारभूतं कार्यम्। भारी काम, मुश्किल काम। घटयितुम्—घट चेष्टायाम् भ्वा० आ० अकर्मक है, अतः 'साधना' अर्थ में

५२४. ब्रह्मचारिभिरुल्बण आकल्पो न कल्पनीयः, न च परिकर्मणि कालः क्षपणीयः।

५२५. अहो अस्य प्रणयप्राग्भारः सगन्धेषु। सोऽप्यगृह्यमाणकारणः।

५२६. मनुष्या हि किञ्चित्स्ववशात् कुर्वन्ति, किञ्चित्कर्मवशात्।

५२७. अशितानशितेन जीवति। कदाचिद् द्व्यहात्यासं भुङ्क्ते कदाचित् त्र्यहात्यासम्।

५२८. अयं नो बन्धुर्विपश्चिदिति बहुमानमर्हति कापुरुष इत्यवधीरणाम्।

५२९. अद्यश्वीना परीक्षा, त्वं चैवमुदास्से तत्कथं युज्यते?

५३०. स्वयमयतात्मा स कथंकारमन्यान्विनयेत्? य आत्मना चक्षुर्विकलः स नान्यान्मार्गमादिशेत्।

५३१. कस्यानुमतेऽगमः? नातः परं गुरुमननुमान्य बहिरगारं गमनीयम्।

णिच् का प्रयोग किया गया है। आकल्पः—वेषः। आकल्पवेषौ नेपथ्यम्—अमर। परिकर्मणि—परिकर्माङ्गसंस्कारः—अमर। प्रणयप्राग्भारः—प्रणयस्य प्राग्भारः। प्रणयः=प्रेमा। प्रणयास्त्वमी। विस्रम्भयाच्ञाप्रेमाणः—अमर। प्राग्भारः=पर्वत का ढलान, मन का झुकाव। उपचार से 'प्राग्भार' का प्रयोग 'राशि', 'संघात', 'अतिशय' अर्थ में होता है। सगन्धेषु—बन्धुषु। अगृह्यमाणकारणः—गृह्यमाणं कारणं यत्र सः, स न भवति। कारण=प्रयोजन।

५२६. स्ववशात्—वशः=इच्छा। इसका मूलार्थ यही है। वश् अदादि प० से 'वशिरण्योरुपसंख्यानम्' से अप् प्रत्यय होता है।

५२७. अशितानशितेन—अशितं च तद् अनशितं च। 'क्तेन नञ्वि-

५२४. ब्रह्मचारियों को भड़कीला पहरावा नहीं पहनना चाहिये, और न ही सजावट में समय खोना चाहिये ।

५२५. अहो इसका अपने बन्धुओं में कितना बढ़ा-चढ़ा प्रेम है, और वह भी निष्कारण ।

५२६. मनुष्य कुछ तो अपनी इच्छा से करते हैं, और कुछ पूर्वकर्म (दैव) के कारण ।

५२७. खाए और बिना खाए जीता है । कभी दो दिन छोड़ कर खाता है, कभी तीन दिन ।

५२८. यह हमारा बन्धु विद्वान् होने से आदर का पात्र है, कुत्सित पुरुष होने से तिरस्कार का ।

५२९. परीक्षा निकट आ रही है, तू ऐसे उदासीन है, यह कैसे उचित है ?

५३०. जिस ने अपने मन को वश में नहीं किया है वह दूसरों को कैसे विनीत बनाए । जो स्वयम् अन्धा है वह दूसरों को कैसे मार्ग दिखा सके ?

५३१. किस की अनुज्ञा से गये थे ? आगे को बिना गुरु की अनुमति प्राप्त किये कमरे से बाहिर मत जाना ।

शिष्टेनानञ्' (२।१।६०) से समानाधिकरण समास होता है । द्व्यहात्यासम्—द्व्यहमत्यस्य । 'अस्यतितृषोः क्रियान्तरे कालेषु' (३।४।५७) से णमुल् ।

५२९. अद्यश्वीना—आसन्ना । 'अद्यश्वीनाऽवष्टब्धे' (५।२।१३) से निपातन किया गया है । इस सूत्र में कई लोग पूर्व सूत्र से 'विजायते' की अनुवृत्ति नहीं करते, अवष्टब्धमात्र (=आसन्नमात्र) में निपातन मानते हैं, तदनुसार यह प्रयोग है । अन्यथा अद्यश्वीना गौः, अद्यश्वीना वडवा (=जो आजकल वियाने वाली है)—ऐसा प्रयोग ही उपपन्न होगा । उदास्से—उद् पूर्वक आस उपवेशने का लट् म० पु० एक० ।

५३०. कथंकारम्—'अन्यथैवंकथमित्थंसु सिद्धाप्रयोगश्चेत्' (३।४।२७) से णमुल् । कृ धातु का यहाँ कुछ अर्थ नहीं ।

५३२. महानगरेषु क्वचिद् वैद्युतः प्रकाश इति दिवामन्या रात्रयः, क्वचिदप्रकाशानि गृहाणीति रात्रिम्मन्यान्यहानि ।

५३३. रत्ननिधायं निदधाति पुस्तकमुपाः, प्रतिजागर्ति च स्वस्योपकरणान्तरे ।

५३४. अतप्तमश्रृतं पयः कालान्तरं न क्षमते । तस्माच्छ्रपयैतत् ।

५३५. किं स्वयमेव संस्करोषि भक्ष्यम् ? न हि सूदेन सँस्स्कारयामि ।

५३६. सम्प्रति किंसमाचारास्ते पितृचरणाः ? अहमस्मि तान्दिदृक्षुः ।

५३७. ब्रुडतो हि कुशं वा काशं वाऽवलम्बनम् ।

५३८. यो जागर्ति स इष्टेन संप्रयुज्यते, यो निद्राति स तद्धापयति ।

५३९. त्वया स्वहस्तेनैवाङ्गाराः कर्षिताः, यत्त्वं प्रत्यक्षं विकुर्वाणमपि सुतं लालनावशो भूत्वा नावारयः ।

---

५३२. दिवामन्याः—दिवाऽऽत्मानं मन्यन्त इति । यहाँ 'दिवा' अव्यय है अतः 'मुम्' का आगम नहीं हुआ और ह्रस्व भी नहीं हुआ । 'खित्यनव्ययस्य' (६।३।६६) अनव्यय पूर्वपद को ह्रस्व करता है और 'अरुर्द्विषद्—' (६।३।६७) अनव्यय अजन्त पूर्वपद को मुम् करता है ।

५३३ रत्ननिधायम्—'उपमाने कर्मणि च' (३।४।४५) से णमुल् हुआ है । रत्ननिधायम् = रत्नमिव ।

५३४. श्रपय—श्रा पाके घटादि है । अतः यह 'मित्' है । णिच् होने पर पुक् का आगम होने पर 'मितां ह्रस्वः' (६।४।९२) से ह्रस्व होता है ।

५३५. सँस्स्कारयामि—'संपरिभ्यां करोतौ भूषणे' (६।१।१३७) से भूषण अर्थ में सुट् का आगम होता है । इस पर वृत्तिकार का वचन है—'संपूर्वस्य क्वचिदभूषणेऽपि सुडिष्यते संस्कृतमन्नमिति' । 'समः सुटि' (८।३।५) से 'सम्' के 'म्' को रु होता है । 'अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा' (८।३।२) से

५३२. बड़े शहरों में कहीं बिजली का प्रकाश होने से रातें दिन मालूम पड़ती हैं और कहीं अन्धेरे घर होने से दिन भी रातें।

५३३. उषा रत्न की तरह पुस्तक को रखती है, और अपनी दूसरी साधन सामग्री का भी ख्याल रखती है।

५३४. बिन पकाए दूध बहुत देर तक नहीं ठहरता, अतः इसे पका लो।

५३५. क्या तुम खाना आप तैयार करते हो? नहीं, रसोइये से पकवाता हूँ।

५३६. इस समय तुम्हारे पिता जी क्या कर रहे हैं? मैं उन से मिलना चाहता हूँ।

५३७. डूबते को तिनके का सहारा।

५३८. जो जागत है सो पावत है जो सोवत है सो खोवत है।

५३९. तुम ने अपने हाथों अपना नाश किया है जो अपने सामने बिगड़ते हुए अपने पुत्र को लाड़-प्यार के अधीन होकर रोका नहीं।

विकल्प से 'रु' से पूर्व को अनुनासिक होता है। 'संपुंकानां सो वक्तव्यः' इस वार्तिक से रुस्थानिक विसर्जनीय के स्थान में नित्य 'स्' होता है। संस्करोमि—'समो वा लोपमेके' इस भाष्य-वचन के अनुसार 'रु' का लोप होने पर अनुस्वार अथवा अनुनासिक सहित एक सकार वाला रूप।

५३६. किंसमाचाराः—कः समाचारः (=आचरणं=क्रिया) एषां ते। बहुव्रीहि।

५३७. कुशं वा काशं वा—कुश और काश पुन्नपुंसक हैं। कुशः कुशम्। काशः काशम्।

५३८. संप्रयुज्यते—युज समाधौ दिवा० आ०। यह अकर्मक है। उपसर्गवश अर्थान्तर हुआ। तद्धापयति—तद् हापयति। यहाँ हापयति= जहाति। साहित्य में 'हा' से स्वार्थ में णिच् बहुत बार प्रयुक्त हुआ है।

५३९. विकुर्वाणम्—'अकर्मकाच्च' (१।३।३५) से विपूर्वक अकर्मक कृ से आत्मनेपद का नियम है।

५४०. न हि कण्टकान्सुमनसो व्यभिचरन्ति । न हि सुखं दुःखेनासंभिन्नमस्ति । न हि सम्पदो विपद्भिरननुस्यूताः सन्ति । तस्माद् व्यापदो विसोढुं सज्जेत् ।

५४१. व्यपदेशमाविलयतस्तेऽजननिर्भूयात् ।

५४२. निकेतनाद्बहिर्मा यासीः, मा ते शैत्यविक्रिया भूत् ।

५४३. उपाध्यायः पर्यन्वयुङ्क्त शिष्यान् किं गङ्गा यमुनामुपतिष्ठते, उत यमुना गङ्गामिति ।

५४४. सम्प्रत्यनध्यायदिवसाः । अव्यापृतस्य मे नातियाति कालः ।

५४५. मा तेऽरातिः प्रतिष्ठात् । अन्यथाऽसौ तेऽतिवेलं कष्टदो भविष्यति ।

५४६. अवचूर्ण्यतेऽयं गोधूमः, एष साधीयश्चूर्ण्यताम् ।

५४७. व्रणः पूयक्लिन्नो बद्धमुखश्च जातः । इदानीमस्य शालाक्यं करिष्यते ।

५४८. साधुरधमर्णं बाधते, वराक ऋणार्णं कुरुते ।

---

५४०. सुमनसः—सुमनस् (फूल) प्रायः बहुवचन में प्रयुक्त होता है और नियत स्त्रीलिङ्ग है । असंभिन्नम्—सम्पूर्वक भिद् धातु का अर्थ मिलाना, जोड़ना होता है । गङ्गायमुनयोः सम्भेदः । उपसर्गकृत अर्थवैचित्र्य के लिये हमारी कृति 'उपसर्गार्थचन्द्रिका' देखो । अननुस्यूताः—षिवु तन्तुसन्ताने दिवा० प० का निष्ठा में 'स्यूत' रूप होता है, अर्थ है सीया हुआ । अनुस्यूत=साथ जकड़ा हुआ, बन्धा हुआ । विसोढुम्—'सोढः' (८।३।११५) से मूर्धन्यादेश का निषेध होगया । 'परिनिविभ्यः सेवसितसय'—(८।३।७०) से प्राप्त था ।

५४१. अजननिः—'आक्रोशे नञ्यनिः' (३।३।११२) से धिक्कार अर्थ में नञ्पूर्वक धातुमात्र से 'अनि' प्रत्यय होता है ।

५४०. (गुलाब के) फूल विना काँटे के नहीं होते। दुःख से अमिश्रित सुख नहीं मिलता। ऐसी सम्पत्ति नहीं जो विपत्ति से अनुबद्ध न हो, इसलिये विपत्तियों को सहने को तैयार रहे।

५४१. कुल को कलङ्कित करने वाले तेरे जैसे का जन्म न हो।

५४२. घर से बाहिर मत जा, ऐसा न हो तुझे ठण्ड लग जाय।

५४३. गुरु ने शिष्यों से पूछा, क्या गङ्गा यमुना में जा मिलती है अथवा यमुना गङ्गा में।

५४४. आज-कल विद्यालय में छुट्टियाँ हैं, खाली समय नहीं कटता।

५४५. तेरा शत्रु जमने न पाय, नहीं तो वह तुझे बहुत कष्ट देगा।

५४६. गेहूँ मोटा पिस रहा है, इसे बारीक पीसिये।

५४७. फोड़े में पीप पड़ गई है और मुँह बन गया है। अब इसे सुई से फाड़ दिया जायगा।

५४८. साहू ऋणी को तंग करता है, बेचारा ऋण चुकाने के लिये और ऋण लेता है।

---

५४३. पर्यन्वयुङ्क्त—परि अनुयुज् का लङ्। अनुयुज् प्रश्नार्थक है।

५४५. मा प्रतिष्ठात्—माङ् उपपद होने पर प्रति उपसर्ग होने पर स्था का लुङ्। 'गातिस्था—' (२।४।७७) से सिच् का लुक्। अतिवेलम्= भृशम्। अतिवेलभृशात्यर्थातिमात्रोद्गाढनिर्भरम्—अमर।

५४६. अवचूर्ण्यते—यहाँ 'अव' चूर्णभाव की न्यूनता को कहता है। जैसे 'अवदग्ध' (अधजला) में दाह की अपरिपूर्णता को।

५४७. शालाक्यम्—शलाकाकर्म। ष्यञ्।

५४८. साधुः—साधुर्वार्धुषिके चारौ सज्जने चाभिधेयवत्—विश्व। अधमर्णम्—अधम ऋणे इति अधमर्णः। ऋणार्णम्—यहाँ 'प्रवत्सतरकम्बल—' इस वार्तिक से वृद्धि होती है। ऋणस्यापनयनाय यदन्यद् ऋणं क्रियते तदृणार्णम्।

५४९. एकमेवार्थमनुलपसि नार्थान्तरमभिधत्से, न चान्यं शृणोषि ।

५५०. शय्योत्थायं पिबन्ति फाण्टं नव्याः ।

५५१. इदं मे चित्तमुत्पन्नं प्रहारं प्रहारं तं क्षुणद्मीति ।

५५२. भद्र ! नहि समे समानशीला भगवता सृष्टाः । सन्ति चेहोभये सुजनाश्च दुर्जनाश्च ।

५५३. मुष्टिमेयं तमोऽभूत्, एकोऽपरं नान्वभूत् ।

५५४. हिन्दुश्च संस्कृतानभिज्ञश्चेति विप्रतिषिद्धमिति प्रतीच्या अपि विद्वांसः किमुत प्राच्याः ।

५५५. कामं युज्यस्व सखीभिः संव्यवहरस्व च, समुज्ज्वलं वा नेपथ्यं कुरु । नाहं वारयामि । परं वित्तं वित्तमिति कृत्वा समुत्सृज ।

५५६. अद्य प्रातस्तरामेवोदेष्यत्ययः । प्रभूतार्थलब्धिं भवित्रीमुत्पश्यामि ।

५५७. आभोगवत्सु निकर्षणेषु यदा परिक्रमिष्यसि, शाद्वलानि क्षेत्राणि, हरितः शाखिनः, स्यन्दमाना अपश्च द्रक्ष्यसि तदा तर्प्स्यति तेऽन्तरङ्गम् ।

---

५४९. अनुलपसि—अनुलापो मुहुर्भाषा—अमर ।

५५०. शय्योत्थायम्—शय्यायाः समुत्थाय । यहाँ त्वरा (अनन्तर कर्तव्य में विलम्ब का अभाव) गम्यमान है ।

५५१. क्षुणद्मि—क्षुदिर् संचूर्णने रुधादि ।

५५२. समे—सम शब्द सर्व-पर्याय सर्वनाम है । 'जसः शी' (७।१।१७) से 'जस्' के स्थान में 'शी' होता है ।

५५३. मुष्टिमेयम्—मुष्ट्या (मुष्टिना वा) मेयम् । जो मुट्ठी से मापा जा सके । अन्वभूत्—अनुभू का अर्थ जानना, पहचानना है ।

५४९. एक ही बात को दोहरा रहे हो, नया कुछ नहीं कहते हो और न ही दूसरे की सुनते हो।

५५०. बिस्तरे से उठते ही आजकल लोग चाय का सेवन करते हैं।

५५१. मेरे जी में आया कि मार मार कर इस का कचूमर निकाल दूँ।

५५२. साधो, भगवान् ने सभी को समानस्वभाव वाला नहीं रचा। यहाँ सज्जन और दुर्जन दोनों हैं।

५५३. गाढ अन्धकार था, एक पुरुष दूसरे को देख नहीं पाता था।

५५४. हिन्दू हो और संस्कृत से अनभिज्ञ हो, यह परस्पर विरोधी बात है ऐसा पश्चिमी विद्वान् भी मानते हैं, पूर्वी विद्वानों का तो क्या कहना।

५५५. सखियों से खूब मिलो, उनके साथ लेन-देन करो। शुभ्र वस्त्र धारण करो, मैं मनाही नहीं करता, पर रुपये को रुपया समझ कर खर्च करो।

५५६. आज पौ फटते ही भाग्य उदय होगा। मुझे सूझ रहा है बहुत धन प्राप्त होगा।

५५७. जब तू खुले मैदानों में घूमेगा, हरे-भरे खेतों, हरे वृक्षों तथा बहते हुए जल को देखेगा, तो तेरा मन तृप्त हो जायगा।

---

५५४. प्रतीच्याः— 'द्युप्रागपागुदक्प्रतीचो यत्' (४।२।१०१) से यत् प्रत्यय शैषिक होता है। प्रतीचि भूभागे भवः=प्रतीच्यः।

५५५. वित्तं वित्तमिति कृत्वा—यहाँ कृत्वा=बुद्ध्वा। कृ धातु के नाना अर्थों के जानने के लिये हमारी कृति 'प्रस्तावतरङ्गिणी' में 'करोतिना सर्वधात्वर्थानुवादः क्रियते' इस निबन्ध को पढ़िये।

५५६. प्रातस्तराम्—यहाँ तरबन्त 'प्रातस्तर' शब्द से अद्रव्यप्रकर्ष में 'आमु' प्रत्यय होता है। काल वस्तु यद्यपि द्रव्य है तथापि काल के प्रातरादि कल्पित विभाग द्रव्य नहीं हैं। अयः—सौभाग्यम्। अयः शुभावहो विधिः—अमर।

५५८. नक्तं तमसि रोचिष्णून्युडूनि सम्प्रति मन्दरुचीनि सन्ति तिरोहितानि ।

५५९. मामिह संनिधाप्य मानो मे ग्लानिं नीत इति यत्सत्यं शत्रूयितं त्वया मयि ।

५६०. सङ्क्रामन्ति रोगाः । संक्रमणे च पुरुषस्य पुरुषान्तरेण संसर्गः कारणतामियर्ति वातश्चासेव्यमानः ।

५६१. यद्गुरु तन्निषीदति यल्लघु तदुत्प्लवते ।

५६२. कोऽद्धा वेद यच्छ्वो भविता ?

५६३. कः कपाटमाहन्ति । अपि कश्चिदागन्तुः प्रतीहारमुपस्थितः ?

५६४. नाग्निं मुखेनोपधमेदित्यामनन्ति सूत्रकाराः ।

५६५. कदोद्वक्ष्यसि जनीम् ? कालोऽयं ते द्वितीयमाश्रममुपसंक्रमितुम् । जीर्यतश्च ते पितरौ ।

---

५५७. आभोगवत्सु---आभोगः परिपूर्णता । =विस्तार । निकर्षणेषु---संनिवेशो निकर्षणम्---अमर ।

५५८. रोचिष्णूनि---रोचनशीलानि । रोचनं दीप्तिः । 'अलंकृञ्निराकृञ्---' (३।२।१३६) से इष्णुच् प्रत्यय होता है । उडूनि---नक्षत्रमृक्षं भं तारा तारकाप्युडु वा स्त्रियाम्---अमर । इस वचन के अनुसार उडु नपुं० है और स्त्रीलिङ्ग भी ।

५५९. शत्रूयितं त्वया मयि---यहाँ 'अधिकरणाच्चेति वक्तव्यम्' इस वार्तिक से अधिकरणसप्तम्यन्त उपमानभूत शत्रु शब्द से क्यच् होता है आचार अर्थ में । अर्थ---त्वया शत्राविव मयि आचरितम् ।

५६०. इयर्ति---ऋ सृ गतौ जुहोत्यादि प० का लट् । यह धातु लोक

५५८. रात के अन्धेरे में चमकते हुए तारे अब मन्द-द्युति हो कर छिप गये हैं।

५५६. मुझे यहाँ बिठा कर तू ने मेरे मान की हानि की है, सच पूछो तू ने मेरे साथ वैर लिया है।

५६०. रोग एक से दूसरे को लग जाते हैं। इस संक्रमण में एक पुरुष का दूसरे के साथ स्पर्श कारण होता है और सेवन किया हुआ वायु भी।

५६१. जो चीज भारी होती है वह नीचे बैठ जाती है और जो हल्की होती है वह ऊपर उठ आती है।

४६२. कौन निश्चित रूप से जानता है कल क्या होगा?

५६३. कौन दर्वाज़ा खटखटा रहा है? क्या कोई आगन्तुक दर्वाजे पर खड़ा है?

५६४. अग्नि में मुख से फूँक न दे ऐसा सूत्रकार ऋषि कहते हैं।

५६५. कब विवाह करोगे? अब समय है कि तुम द्वितीय आश्रम में प्रवेश करो। और तुम्हारे माता-पिता भी बूढ़े हो रहे हैं।

में भी प्रयुक्त होती है।

५६१. उत्प्लवते—उद् पूर्वक प्लुङ् गतौ का रूप है। उपसर्ग के साथ इस का अर्थ उछलना, उभरना, तैरना होता है।

५६२. अद्धा—तत्त्वे त्वद्धाञ्जसा द्वयम्—अमर।

५६३. प्रतीहारम्—द्वाःस्थे द्वारि प्रतीहारः—अमर।

५६४. उपधमेत्—उप पूर्वक ध्मा शब्दाग्निसंयोगयोः भ्वा० प० का लिङ्।

५६५. उद्वक्ष्यसि—परिणेष्यसि। उद् वह् का लृट्। जनी=वधू। 'संज्ञायां जन्याः' (४।४।८२) इस सूत्र में जनी शब्द वधू पर्याय है। काशिकाकार का वचन है—जनी वधूरुच्यते।

५६६. वनीयकाः संपततो जनान्पणान् वन्वते ।
५६७. इयं शिशुः कन्दुकेन खेलन्ती मातुर्मनो हरति ।
५६८. क इमे ? इम आप्ताः ।
५६९. दृढं सज्जामहे संनिहितायै संस्कृतपरीक्षायै ।
५७०. अद्यत्वेऽनुपस्थितेभ्यः स्कूलच्छात्रेभ्य आणकं दण्डयन्ति ।

५७१. कूपस्य खानको मृद्भिरुपलिप्तमात्मानं तत एवोद्धृताभिरद्भिः शुन्धति ।
५७२. अधोऽधोऽधरं तिलकालकः ।
५७३. उपर्युपरि ते शिरो भ्रमति भ्रमरः ।
५७४. त्वां च मां चान्तरा महदन्तरम् । न केवलं जन्मना, विद्ययापि विशेषयामि त्वाम् ।
५७५. *सर्वतः सम्पदः सतः, परितः प्रपतन्ति दुष्कृतो विपदः ।

---

५६६. वनीयकाः—याचकाः । वनीयको याचनको मार्गणो याचकार्थिनौ—अमर । संपततः—सम्पूर्वक पत्—शतृ । संपततः = संचरतः । वन्वते—वनु याचने तनादि आ० ।

५६७. इयं शिशुः—यहाँ कोई भी स्त्रीप्रत्यय प्राप्त नहीं । साथ में प्रयुक्त हुए सर्वनाम 'इयम्' से 'स्त्रीत्व' का बोध होता है। ऐसे ही कपि, मुनि आदि शब्दों में भी कोई स्त्रीप्रत्यय नहीं होगा । अयं कपिः । इयं कपिः (वानरी) । अयं मुनिः । इयं मुनिः ।

५६८. आप्ताः—बन्धु, ज्ञाति । अन्यत्र आप्त = विश्वास्य ।

५६९. सजामहे—भाष्यकारप्रयोग-प्रामाण्य से आत्मनेपद साधु है । यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम् । ०परीक्षायै—'क्रियाग्रहणमपि कर्तव्यम्' इस वार्तिक से 'परीक्षा' की सम्प्रदान संज्ञा हुई ।

५७०. आणकं दण्डयन्ति—'दण्ड' धातु यहाँ ग्रहणार्थक है। द्विकर्मकता

५६६. भिखारी आते-जाते लोगों से पैसे मांगते हैं।

५६७. यह बच्ची गेन्द से खेलती हुई माता के मन को हरती है।

५६८. ये कौन हैं? ये अपने हैं।

५६९. हम निकट में होने वाली संस्कृत परीक्षा के लिये तैयार हो रहे हैं।

५७०. आजकल स्कूल में उपस्थित न होने वाले विद्यार्थियों से एक आना जुर्माना लेते हैं।

५७१. कूएँ का खोदने वाला मिट्टी से लथपथ हुए अपने आप को वहीं से निकले हुए जल से शुद्ध करता है।

५७२. निचले होंठ के ठीक नीचे काला तिल है।

५७३. तेरे सिर के जरा ऊपर भौंरा मँडरा रहा है।

५७४. तेरे और मेरे बीच बहुत अन्तर है। मैं न केवल जन्म से तुझ से उत्कृष्ट हूँ, विद्या से भी।

५७५. सज्जनों के चारों ओर सम्पदाएँ हैं, दुष्टों पर सब ओर से विपदाएँ आती हैं।

वैकल्पिक है, अतः अपादानत्व विवक्षा में 'छात्र' से पञ्चमी निर्दोष है।

५७१. खानकः—खनतीति। 'ण्वुल्तृचौ' (३।१।१३३) से कर्ता अर्थ में ण्वुल्। उपधावृद्धि।

५७२. अधोऽधः—'उपर्यध्यधसः सामीप्ये' (८।१।७) से सामीप्य गम्यमान होने पर 'अधः' का दो बार उच्चारण हुआ। 'द्वितीयाऽऽम्रेडितान्तेषु—' इस कारिका से 'अधर' शब्द से द्वितीया हुई।

५७३. उपर्युपरि—यहाँ भी (५७२) में जैसे कार्य हुआ है वैसे द्विर्वचन और द्वितीया विभक्ति होती है। 'सामीप्य' यहाँ भी गम्यमान है। भौंरा सिर के ऊपर लगभग छूता हुआ ही मँडराता है।

५७४. विशेषयामि—अतिशये, बढ़ता हूँ, अधिक होता हूँ।

५७५. सतः सर्वतः—'उभसर्वतसोः कार्या—' इस कारिका से 'सत्' से द्वितीया। दुष्कृतः परितः—'अभितः परितः समया—' इत्यादि वचन के अनुसार 'दुष्कृत्' से द्वितीया।

५७६. मां प्रति नासौ वीरः, स हि भीलुकान्नातिभिन्नः ।

५७७. गृहं प्रति प्रस्थितोहं मध्येपथं प्रियवयस्ये हरदत्ते एकद्वान् दिवसान् वत्स्यामि ।

५७८. यः प्रकृत्या चारुस्तस्याहार्येण गुणेन नार्थः ।

५७९. रामो मत्तो मासेन पूर्वः, श्यामश्चाध्यर्धेन मासेनावरः ।

५८०. ग्रामादारादारामः । एषा विहारस्थली ग्राम्याणां सक्षणानाम् ।

५८१. अलंकुमारिरियं कुमारः । प्रशस्तमेतयोर्दाम्पत्यं भविष्यति ।

५८२. तस्य रूपाद्विसंवदति शीलम् ।

५८३. दक्षिणास्तन्तुवायगृहेभ्यस्तुन्नवायगृहाः ।

---

५७६. भीलुकात्—भीरुभीरुकभीलुकाः—अमर ।

५७७. मध्येपथम्—पथो मध्ये । 'पारे मध्ये षष्ठ्या वा' (२।१।१८) से अव्ययीभाव । 'ऋक्पूरब्धू—' (५।४।७४) से 'अ' समासान्त । 'भ' संज्ञा होने से टि लोप । हरदत्ते—सामीपिक अधिकरण में सप्तमी । एकद्वान्—एको वा द्वौ वा । 'संख्ययाऽव्ययासन्नाधिक—' (२।२।२५) इस शास्त्र से बहुव्रीहि समास होता है । 'बहुव्रीहौ संख्येये—'(५।४।७३) से डच् समासान्त होता है । टि (द्वि का इ) का लोप होकर विशेष्य (दिवस) के लिङ्ग के अनुसार पुँल्लिङ्ग होता है । 'वा' शब्द यहाँ संशय अर्थ में है विकल्प में नहीं । संशय अनियत संख्या की ओर संकेत करता है । अतः 'द्वित्राः' यहाँ बहुवचन उपपन्न होता है, क्योंकि द्वौ वा कहने पर 'त्रयः' भी बुद्धि में अवश्य भासते हैं । तत्त्वबोधिनीकार का यह समाधान प्रकृत में ठीक नहीं बैठता । वस्तुतः संशय होने से एको वा द्वौ वा कहने पर बुद्धि में त्रित्व-सख्या भासती है, अतः 'एकद्वाः' में बहुवचन उपपन्न ही है ।

५७६. मेरे विचार में वह वीर नहीं, वह तो डरपोक से कुछ ज्यादा भिन्न नहीं।

५७७. घर से चल कर रास्ते में अपने प्यारे मित्र हरदत्त के पास दो-एक दिन ठहरूँगा।

५७८. जो स्वभाव से सुन्दर है उसे बाह्य संस्कार से कुछ प्रयोजन नहीं।

५७९. राम मुझ से एक महीना बड़ा है, श्याम मुझ से डेढ़ मास छोटा है।

५८०. ग्राम के निकट बाग है। यह लब्धावकाश ग्रामीणों की सैरगाह है।

५८१ यह कुमार इस कुमारी के योग्य है। इन दोनों का सुन्दर जोड़ा बनेगा।

५८२. उसका शील रूप से भिन्न है।

५८३. जुलाहों के घरों से दर्ज़ियों के घर दक्षिण की ओर हैं।

---

५७८. आहार्येण—बाहिर से लाये गये। गुणेन = संस्कारेण।

५७९. मासेन पूर्वः—'पूर्वसदृशसमोनार्थकलहनिपुणमिश्रश्लक्ष्णैः' (२।१।३१)—इस तृतीया-विधायकशास्त्र से यह ज्ञापित होता है कि पूर्वादि के योग में तृतीया होती है। अध्यर्धेन मासेन—अध्यारूढोऽर्धो यं (मासम्) सः, तेन। बहुव्रीहि।

५८०. आरात्—दूरसमीपयोः। 'अन्यारात्—' (२।३।२९) से इसके योग में पञ्चमी।

५८१. अलंकुमारिः—अलं कुमार्यै इति। 'द्विगुप्राप्तापन्नालंपूर्वगतिसमासेषु प्रतिषेधो वक्तव्यः' यह परवल्लिङ्गता का निषेध करने वाला वार्तिक यहाँ समास का ज्ञापक है, और कोई विधायक शास्त्र नहीं। एकविभक्ति चापूर्वनिपाते' (१।२।४४) से उपसर्जन संज्ञा होकर ह्रस्व हुआ। दाम्पत्यम्—जाया च पतिश्च दम्पती, तयोर्भावः।

५८३. तन्तुवायगृहेभ्यः—तन्तून् वयतीति तन्तुवायः। 'ह्वावामश्च' (३।

५८४. क्व तवोपधानं यत्त्वं बाहुमुपधाय शेषे ?
५८५. सखीनां वचांस्यमृतादपि मधुतराण्यापतन्ति मनसः ।
५८६. अलसं रहयन्ति सम्पदः सर्वाः ।
५८७. न सुष्ठ्वजीर्यन्ममान्नम्, तेनोदर्या मे व्यथाऽभूत् ।
५८८. न जातु पुनरत्रभवत्यपरात्स्यामि ।
५८९. विरला एव त्वादृशा जगति जायन्ते येषां परार्थ एव स्वार्थः । आत्मम्भरयस्तु भूरयः ।

५९०. दारिद्र्यं हि विहन्ति मनोरथान् उपहन्ति च मानसम् ।

५९१. राजानः प्रजा धर्मेण प्रशिष्युर्दुष्टांश्च यथाशास्त्रं शिष्युः ।

५९२. अनुजानीहि मां गमनाय । चिरं मे प्रोषितस्य । आध्यायति मामम्बा ।
५९३. गम्यतां पुनर्दर्शनाय । शिवास्ते सन्तु पन्थानः ।
५९४. अपोऽशान, उदश्विद्धा, यथाकामं समाचर ।
५९५. ध्रुवं प्रार्थयिष्यामहेऽरातिम् । मा स्म स प्रथममाक्रमीन्नः ।

२।२) से अण् । यहाँ 'गृह्' शब्द से दिग्वाची दक्षिण शब्द के योग में 'अन्यारात्' (२।३।२९) से पञ्चमी हुई । तुन्नवायः = सौचिकः । तुन्नं सच्छिद्रं वयतीति ।

५८५. मनसः—शेषे षष्ठी ।

५८६ रहयन्ति—रह त्यागे चुरादि अदन्त ।

५८७. उदर्या—उदरे भवा । 'शरीरावयवाच्च' (४।३।५५) से यत् ।

५८८. अपरात्स्यामि—अप पूर्वक राध् दिवा० अकर्मक का लृट् । इस धातु के प्रयोग में प्रायः सप्तमी देखी जाती है, कहीं चतुर्थी भी ।

५९१. प्रशिष्युः—प्रपूर्वक शास् का लिङ् । यहाँ प्रभुता, अधिकार

५८४. तुम्हारा सरहाना कहाँ है जो तुम बाँह के ऊपर सिर धरे लेट रहे हो ?
५८५. मित्रों के वचन मन को अमृत से अधिक मीठे लगते हैं।
५८६. आलसी को सब सम्पत्तियाँ छोड़ जाती हैं।
५८७. मुझे खाना हज़म नहीं हुआ, अतः पेट में पीड़ा हो गई।
५८८. फिर कभी भी आप के प्रति अपराध नहीं करूँगा।
५८९. आप जैसे विरले ही इस लोक में जन्मते हैं। जिन्हें दूसरों का प्रयोजन ही अपना प्रयोजन बन गया है। अपने आप को पालन करने वाले तो बहुत हैं।
५९०. दरिद्रता इच्छाओं की पूर्ति में विघ्न करती है और मन को दूषित करती है।
५९१. राजा प्रजा पर धर्मानुसार शासन करें और दुष्टों को शास्त्रानुसार दण्ड दें।
५९२. मुझे (अब) जाने दीजिये। मुझे देर हो गई घर से आये हुए। मेरी माता उत्कण्ठा-पूर्वक मुझे याद करती होगी।
५९३. जाइये, फिर भी दर्शन देना। आप की यात्रा निर्विघ्न हो।
५९४. चाहे पानी पी लो चाहे छाछ, जैसी इच्छा हो वैसे करो।
५९५. हम निश्चय ही शत्रु पर चढ़ाई करेंगे, ऐसा न हो कि वह हम पर पहले वार कर दे।

अपि वा तन्त्रणा अर्थ है। शिष्युः—यहाँ शास् का दण्ड देना अर्थ है।

५९२. आध्यायति—सोत्कण्ठं स्मरति। 'सम्प्रतिभ्यामनाध्याने' (१।३।४६) की वृत्ति में 'आध्यानमुत्कण्ठापूर्वकं स्मरणम्' ऐसा अर्थ निर्देश किया है।

५९४. अशान—अश भोजने क्र्यादि का लोट् म० पु० एक०। उदश्वित्—उदकेन श्वयांत = वर्धते—क्विप्। यह नपुंसकलिङ्ग है।

५९५. प्रार्थयिष्यामहे—अभियास्यामः। प्रपूर्वक ही अर्थ (चुरादि) धातु इस अर्थ को देता है। दूसरा कोई उपसर्ग हो, तो नहीं। आक्रंसीत्—आङ् क्रम्—लुङ्।

५९६. अलं मां भीषयित्वा, नाहं तवैताभ्यो मिथ्याविभीषिकाभ्यो भेष्यामि।

५९७. एवमाभणति लोकः—यत्तृणमप्यधिकमुह्यते तदलमुष्ट्रकस्य पृष्ठभङ्गाय।

५९८. अपि तिष्ठ, अपि याहि। नाहं ते याथाकामीं विरुन्धे।

५९९. मन्त्रहृदयं विविवरीषामीतीतोऽवधानं दीयमानं प्रार्थये।

६००. पृष्ठेनोह्यमानो भारो न तथा बाधते भारिणां यथा शिरसा।

६०१. पटच्चराणि परिदधत इमान्कृषकानवेहि।

६०२. अविद्यमाना अप्यर्थाः क्लिश्नन्ति गृहिणो विद्यमानाश्चापि। अल्पेपि कदर्थयन्ति बहवश्चापि।

६०३. परमार्थं विद्वांसो मुनयः सद्य एव मुच्यन्ते।

---

५९६. अलं भीषयित्वा—'अलंखल्वोः प्रतिषेधयोः—' (३।४।१८) से यहाँ क्त्वा प्रत्यय हुआ।

५९७. पृष्ठभङ्गाय—'नमः स्वतिस्वाहास्वधालंवषड्योगाच्च' (२।३।१६) से चतुर्थी। उष्ट्रकस्य—'अनुकम्पायाम्' (५।३।७६) से 'क' प्रत्यय होता है।

५९८. अपि तिष्ठ, अपि याहि—अपि शब्द का यहाँ 'अपिः पदार्थसंभावना—' (१।४।९६) से अन्ववसर्ग (=कामचारानुज्ञा (जो चाहे करने देना) में कर्मप्रवचनीय है, पर इस संज्ञा का यहाँ कोई फल नहीं। 'प्रैषातिसर्गप्राप्तकालेषु कृत्याश्च' (३।३।१६३) से यहाँ अतिसर्ग (=कामचारानुज्ञा) अर्थ में लोट् होता है। याथाकामीम्—यथाकामंभावः = याथाकाम्यम्। ष्यञ्। स्त्रीत्व विवक्षा में ङीष्, तद्धित 'य' का लोप। याथाकामी।

५९९. विविवरीषामि—विवरीतुमिच्छामि। विपूर्वक वृञ् वरणे से सन्।

५९६. आप मुझे डराइये नहीं। मैं आप की इन गीदड़भभकियों से डरने वाला नहीं।

५९७. ऐसी कहावत है—एक तिनका भी अधिक उठाया हुआ ऊँट की कमर को तोड़ देता है।

५९८. चाहे जाओ, चाहे ठहरो। मैं तुम्हारे स्वेच्छाचार को नहीं रोकता।

५९९. मन्त्र-रहस्य खोलने लगा हूँ अतः चाहता हूँ कि आप इधर ध्यान दें।

६००. पीठ पर उठाया हुआ बोझा भार उठाने वाले को इतना तंग नहीं करता जितना सिर पर उठाया हुआ।

६०१. चीथड़े पहने हुए इन लोगों को किसान जानिये।

६०२. धनादि का अभाव भी गृहस्थ को दुःखी करता है और भाव भी। थोड़ा धन तंग करता है और बहुत भी।

६०३. परम तत्त्व को जानते हुए मुनि तत्काल मुक्त हो जाते हैं।

---

६००. पृष्ठेनोह्यमानः—वह् के प्रयोग में अधिकरण की करण संज्ञा नियम से व्यवहार में देखी जाती है। 'विवक्षातः कारकाणि भवन्ति' इस शीर्षक का निबन्ध हमारी कृति 'प्रस्तावतरङ्गिणी' में पढ़िये।

६०१. पटच्चरम्—पट इवाचरतीति प्रातिपदिकादाचारे क्विप्। ततः शत्रन्ताद् भूतपूर्वे चरट् इति क्षीरस्वामी। जो पहले वस्त्र का काम देता था, अब जीर्ण होने से निकम्मा होगया है। पटच्चरं जीर्णवस्त्रम्—अमर।

६०२. अल्पे— 'प्रथमचरमतयाल्प—' (१।१।३३) से जस् परे 'अल्प' की विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होती है। सर्वादिगण में पाठ न होने से प्राप्त नहीं थी।

६०३. परमार्थं विद्वांसः—'विदेः शतुर्वसुः' (७।१।३६) से 'शतृ' को 'वसु' आदेश विकल्प से होता है। 'न लोकाव्ययनिष्ठा—' (२।३।६९) से कृद्योग में प्राप्त षष्ठी का निषेध होकर परमार्थ (कर्म) में द्वितीया हुई।

६०४. यद्बह्वकारं विषयं व्याचक्षाणमन्तरा प्रतिबध्नीथ तन्नाहं रोचयामि।

६०५. गतो वासरः, अवतीर्णा यामिनी।

६०६. सीतां हृत्वा पौलस्त्य आत्मनो वधमाहरत्।

६०७. देवदत्त लघ्वागच्छ, अहमस्मि त्वया कार्यी।

६०८. सखे किं रुष्यसि मे यदनाभाष्यैव मामन्तिकादतिक्रामसि?

६०९. कनीयांसं सहाध्यायिनं बलात्पृष्ठे प्रहृत्य व्यद्रवत्सोमदत्तः।

६१०. उपयुक्तपूर्वाणि पुस्तकानि कनीयसा मूल्येन क्रीत्वा ज्यायसा विक्रीणीते पुस्तकविक्रायः।

६११. वयं गदान्निर्गतं सुहृदं सुखं प्रष्टुं यामः।

६१२. अपध्वंस रे मूढ! मत्समक्षमपि धृष्णोष्यनृतं निगदितुम्?

६१३. पश्चिमे वयसि सुखं निर्वक्ष्यामीति स पिपीलिकावृत्त्या धनं संचेतुं घटते।

६१४. जातु तत्रभवानभिविनीतो गुरूनतिवर्तते। अहो गर्ह्यमेतत्।

---

६०७. कार्यी—कार्यमस्यास्तीति। इनि। ठन् भी हो सकता है—कार्यिकः।

६०८. अनाभाष्य—विना सम्बोधन किये। आङ्पूर्वक भाष् का अभि-सम्बोधन अर्थ है। स्यादाभाषणमालापः—अमर।

६०९. यहाँ प्रपूर्वक हृञ् हरणे के प्रयोग में जिस पर प्रहार किया गया है उस में द्वितीया (सहाध्यायिनम्) और जिस अङ्ग (पृष्ठ) पर प्रहार है उस से सप्तमी का व्यवहार शिष्टानुमत है।

६१०. विक्रीणीते—'परिव्यवेभ्यः क्रियः' (१।३।१८) से आ०।

६०४. जो आप लोग व्याख्या करते हुए वक्ता को बीच में टोकते हो, सो मुझे अच्छा नहीं लगता।

६०५. दिन बीत गया है, रात उतर आई है।

६०६. सीता को हरण कर रावण ने अपनी मृत्यु को बुला लिया।

६०७. हे देवदत्त जल्दी आओ, तुम से मुझे कुछ काम है।

६०८. मित्र क्या कुछ रुष्ट हो जो बुलाये बिना ही पास से निकल रहे हो?

६०९ अपने से छोटे सहपाठी की पीठ पर चोट मार कर सोमदत्त भाग गया।

६१०. पुस्तक-विक्रेता थोड़े दामों से बर्ती हुई पुस्तकें खरीद कर बड़े दामों पर बेचता है।

६११. हम रोग से छूटे हुए अपने मित्र का स्वास्थ्य पूछने जा रहे हैं।

६१२. अरे मूर्ख, दूर हो। मेरे सामने भी झूठ बोलने का साहस करते हो।

६१३. पिछली उम्र में सुख भोगूंगा इस आशा से वह धीरे-धीरे धन जुटाने का यत्न कर रहा है।

६१४. सुशिक्षित होते हुए आप गुरुओं का उल्लंघन करते हैं, यह कितनी निन्दा की बात है।

पुस्तकविक्रायः—पुस्तकानि विक्रीणीत इति। कर्मण्यण्।

६१२. अपध्वंस— 'ध्वंसु गतौ च' इस धातुपाठ के प्रमाण से ध्वंस् का अर्थ जाना भी है। अनुदात्तेत्त्व के होने पर कभी आत्मने० नहीं भी होता, सो यहाँ परस्मैपद हुआ। ऐसा ही प्रयोग नाटकादियों में देखा गया है।

६१३. निर् वह् से लट्। सुखम्—क्रियाविशेषण। घटते=चेष्टते=यतते।

६१४. अतिवर्तते—यहाँ काल सामान्य में 'गर्हायां लडपिजात्वोः' (३।३।१४२) से जातु शब्द उपपद होने पर और निन्दा की प्रतीति होने पर लट् हुआ।

६१५. अनक्षरस्यापि दृश्यतेऽक्षरलब्धिरिति श्रुते श्रोतव्ये च समो नो निर्वेदः साम्प्रतम् ।

६१६. कामये भोक्तुम् । त्वरय मे भोजनम् ।
६१७. दवीयान्नो गन्तव्यो ग्रामः, अल्पावशेषमहः । तेन त्वरिततरेण क्रमेण यामः ।
६१८. अहमपि विदिशागामिनं सार्थमनुप्रविष्टः, तेनावशिष्टमध्वानं क्षेमेणात्यायम् ।
६१९. नियमे स्थितो बटुर् अभ्युदितो मा स्म भूवमिति प्रातस्तरां संजिहीते ।
६२०. हस्त्यश्वरथपादातमिति चतुरङ्गं सैन्यं भवति ।
६२१. अतिनिद्रं शेषे । अहो आलस्यम् ।
६२२. आशुरयमश्वो न शक्यो हेलया वल्गासु ग्रहीतुम् ।

---

६१५. अक्षरलब्धिः—न क्षरतीति । अक्षरं परं ब्रह्म ।

६१६. कामये भोक्तुम्—यहाँ इच्छार्थक समानकर्तृक 'कामि' धातु उपपद होने पर 'समानकर्तृकेषु तुमुन्' (३।३।१५८) से 'भुज्' से तुमुन् हुआ । त्वरय—त्वर् से णिच् करके लोट् । 'ञित्वरा संभ्रमे' घटादि है, अतः मित् होने से ह्रस्व होता है ।

६१७. दवीयान्—दूरतरः । क्रमेण—पादन्यासेन ।

६१८. सार्थम्—सरतीति सार्थः । 'चलता जाता है' ऐसा व्युत्पत्त्यर्थ है । अत्यायम्—अति—इण्—लङ् । =अत्यक्रामम् ।

६१९. अभ्युदितः—उस ब्रह्मचारी का नाम है जो सूर्य के निकलने पर भी सो रहा है, ऐसा ब्रह्मचारी प्रायश्चित्ती होता है । इसी प्रकार जिस के सो जाने के पश्चात् सूर्य अस्त होता है उसे अभिनिम्रुक्त अथवा अभिनिम्लुक्त कहते हैं । इस पर अमर का वचन है—सुप्ते यस्मिन्नस्तमेति सुप्ते

६१५. अपढ़ पुरुष को भी अक्षर ब्रह्म की प्राप्ति देखी जाती है, अतः अब सुने हुए और सुने जाने वाले शास्त्रादि के प्रति हमारा एक समान विराग है ।

६१६. मुझे भूख लग रही है, भोजन जल्दी भेजिये ।

६१७. हमारे पहुँचने का गाँव बहुत दूर है, दिन थोड़ा बाकी है, अतः हमें जल्दी-जल्दी पग उठाना चाहिये ।

६१८. मैं भी भिलसा जाने वाले काफ़ले में सम्मिलित हो गया, जिससे मेरी शेष यात्रा बिना क्षति के कट गई ।

६१९. नियमवान् ब्रह्मचारी सूर्य मुझे सोते हुए न निकले इस चिन्ता से बहुत सवेरे उठता है ।

६२०. हाथी, घोड़े, रथ और प्यादे—ये सेना के चार अङ्ग होते हैं ।

६२१. नींद का समय हो चुका और तुम सो रहे हो । कितना आलस्य !

६२२. यह (बहुत) तेज़ घोड़ा है । इसे वागों से वश में करना आसान नहीं ।

यस्मिन्नुदेति च । अंशुमानभिनिम्लुक्ताभ्युदितौ तौ यथाक्रमम् ॥ संजिहीते—'कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः' इस ऐतरेय ब्राह्मण की श्रुति की व्याख्या में सायण कहता है—सम्पूर्व ओहाङ् गताविति धातुः शय्यापरित्यागे वर्तते ।

६२०. हस्त्यश्व०—यह समाहार द्वन्द्व है । 'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्' (२।४।२) से एकवद्भाव होता है । पादातम्—पदातीनां समूहः । 'भिक्षादिभ्योऽण्' (४।२।३८) से अण् । 'पादातं पत्तिसंहतिः—' अमर ।

६२१. अतिनिद्रम्—'असम्प्रति' अर्थ में 'अव्ययं विभक्तिसमीप—' (२।१।६) से अव्ययीभाव । निद्रा सम्प्रति न युज्यत इत्यतिनिद्रम् ।

६२२. वल्गासु ग्रहीतुम्—यहाँ सप्तमी व्यवहार शिष्टसंमत है । आलाने गृह्यते हस्ती वाजी वल्गासु गृह्यते ।

६२३. वेगवाहिनीयं वाहिनी न सहसाऽवगाह्या ।

६२४. एषाऽऽयाति ते मातेति मा स्म रोदीः शिशो !

६२५. राज्ञः सिद्धिश्चमूपतिचातुरीमन्वायतते नाम ।

६२६. कियच्चिरं भङ्गुरेयं तनूः स्थास्यति ।

६२७. खलप्वो वृत्तिस्तथैव संभावनीयाऽऽवश्यकी च यथा द्विजातेः ।

६२८. तिर्यञ्चोपि सीतानिर्वासने दुःखसब्रह्मचारिण इति कविर्दिङ्नागो निरूपयति ।

६२९. अयमसत्येऽभिनिवेशो नियतमुत्सादयिष्यति वः ।

६३०. अहं सुतस्य श्वो गमनं संविदधामि ।

६३१. आमनन्ति शास्त्राणि—पतिः प्रदीपो भवति पत्नी च तस्य प्रभा, स द्रुमो भवति सा च वल्लरी, स वीर्यं भवति सा च श्रीः, स आत्मा भवति सा च तनूरिति ।

६३२. वात्याभिभूतो व्याघ्रो भयसंपिण्डिताङ्गो गुल्मेषु केषुचिच्छरणमन्वैच्छत् ।

६३३. अहं सर्वं मे धनमेकस्या वंश्याः प्रति तस्मै कामतोऽयच्छम् ।

---

६२५. चमूपतिचातुरीम्—चमति भक्षयति (परसैन्यम्) इति चमूः । चम्वाः पतिः, तस्य चातुरी, ताम् । चातुर्य—से स्त्री विवक्षा में ङीष् और य लोप होने पर 'चातुरी' रूप सिद्ध होता है। अनुपूर्वक आयतते सकर्मक है ।

६२७. खलप्वः—खलं पुनातीति, तस्य । 'ओः सुपि' (६।४।८३) से यण् ।

६२८. दुःखसब्रह्मचारिणः—एक ही वेद में व्रत धारण करने वाले ब्रह्मचारी सब्रह्मचारी कहलाते हैं । एकब्रह्मव्रताचारा मिथः सब्रह्मचारिणः—अमर । ब्रह्मचारी तपस्वी होता है, अतः उपचार से अर्थ हुआ जो दुःख

६२३. यह नदी बड़े बहाव से बह रही है। इस में बिना सोचे-समझे नहीं उतरना चाहिये।

६२४. हे बच्चे! तेरी माता अभी आ रही है, इसलिये मत रो।

६२५. राजा की सिद्धि सेनापति की चतुराई पर निर्भर है, यह मानी हुई बात है।

६२६. यह विनाशी शरीर कब तक ठहरेगा?

६२७. भंगी का व्यवसाय उतना ही संमान के योग्य तथा आवश्यक है जितना ब्राह्मण का।

६२८. मृगादि पशु भी सीता के निर्वासन पर उस के साथ दुःख मना रहे हैं, इसे दिङ्नाग कवि (अपने नाटक में) दिखाता है।

६२९. झूठ में आप का यह हठ आप का विध्वंस कर देगा।

६३०. मैं अपने पुत्र के कल जाने की तैयारी कर रहा हूँ।

६३१. शास्त्र कहते हैं—(यदि) पति दीया है तो पत्नी उस की प्रभा है, (यदि) वह वृक्ष है तो वह बेल है, (यदि) वह सामर्थ्य है तो वह लक्ष्मी है, (यदि) वह आत्मा है तो वह शरीर है।

६३२. आँधी से तंग आया हुआ व्याघ्र अपने शरीर को सिकोड़ कर किन्हीं झाड़ियों में अपना बचाओ ढूँढ़ता था।

६३३. मैं ने अपनी इच्छा से अपना सारा धन उसे एक बाँसुरी के बदले में दे दिया।

में सीता के साथी तपस्वी हैं।

६२९. उत्सादयिष्यति—उद् पूर्व षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु से णिच् करने पर लृट्।

६३२. वात्याभिभूतः—वातानां समूहो वात्या। 'पाशादिभ्यो यः' (४।२।४९) से य प्रत्यय।

६३३. वंश्याः प्रति—यहाँ 'प्रति' प्रतिदान अर्थ में कर्मप्रवचनीय है और इसके योग में 'प्रतिनिधिप्रतिदाने च—' (२।३।११) से पञ्चमी हुई।

६३४. न खलूच्चैस्तमं पदमभीतेरास्पदं भवति ।

६३५. उपस्थितो नौ वियोग इति चिन्तया सीताया अक्षिणी उदश्रुणी अभूताम् ।

६३६. जनकस्त्विदं कन्याललाम कस्मै देयमिति निश्चेतुं नाशकत् ।

६३७. अद्याहं पाप मृत्यवे त्वा परिददामि ।

६३८. यदि क्षुध्यति तेऽरातिः, तमाशय, यदि तृष्यति पायय । यस्मादेवमाचरंस्त्वं तमनुतापेन महता धक्ष्यसि ।

६३९. येऽस्मान्द्वेक्ष्यन्ति ते पराभविष्यन्ति ।

६४०. यदि रहस्यमुद्भेत्स्यते सम्पन्नमपि कार्यं विपत्स्यते ।

६४१. श्वोहमितो गन्तास्मि परश्वश्च परापतितास्मि ।

६४२. अद्यानध्याय इति पर्वतके स्वैरं विहरिष्यामो विविधाश्च खेलाः खेलिष्यामः ।

६४३. ये व्यसनेषु प्रसजन्ति ते समुत्सीदन्ति । एष नियामः ।

६३४. 'आस्पदं प्रतिष्ठायाम्' (६।१।१४६) से 'आस्पद' शब्द निपातन किया गया है ।

६३५. उदश्रुणी—उद्गतान्यश्रूणि ययोस्ते (द्विवचन) । अक्षिणी और उदश्रणी में 'ई' की 'ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्' (१।१।११) से प्रगृह्य संज्ञा होकर 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' (६।१।१२५) से प्रकृतिभाव हुआ ।

६३६. कन्याललाम—कन्यासु श्रेष्ठम् । अमर अदन्त ललाम शब्द नपुंसकलिङ्ग में पढ़ता है । यादव (वैजयन्तीकार) इसे नकारान्त भी मानता है । ललामोऽस्त्री ललामापि इत्यादि । प्रकृति में ललामन् शब्द है ।

६३७. परिददामि—परि पूर्वक दा का अर्थ सुपुर्द करना, भेंट करना है । परिः सर्वतो भावे ।

६३८. अरातिः—रा दाने से क्तिन् होने पर 'राति' (=दान) रूप सिद्ध

६३४. बहुत ऊँचा दर्जा भय रहित नहीं होता।

६३५. हम दोनों के वियोग का समय आ गया है यह सोचते ही सीता की आँखें डबडबा गईं।

६३६. पिता तो निश्चय न कर पाया कि इस कन्यारत्न को किसे देना चाहिये।

६३७. हे पापी, आज तुम्हें मृत्यु के हवाले करता हूँ।

६३८. यदि तेरा शत्रु भूखा है तो उसे खिला, यदि वह प्यासा है तो उसे पिला, क्योंकि ऐसे करने से तू उसे बड़े पश्चात्ताप से दग्ध करेगा।

६३९. जो पासों से जुआ खेलेंगे वे नष्ट हो जायेंगे।

६४०. यदि भेद खुल गया तो बना-बनाया कार्य बिगड़ जायगा।

६४१. मैं कल यहाँ से जाऊँगा और परसों लौट आऊँगा।

६४२. आज पढ़ाई नहीं होगी, इसलिये पहाड़ी पर मनचाही सैर करेंगे और नाना खेलें खेलेंगे।

६४३. जो व्यसनों में फँसते हैं वे नष्ट हो जाते हैं, यह नियम है।

होता है। अविद्यमाना रातिरस्य इत्यरातिः (जो देता नहीं)। आर्यों में जो पात्र को सामर्थ्य रखता हुआ भी नहीं देता था, उसे समाज का शत्रु समझते थे। यही भाव अराति शब्द के शत्रुपर्याय होने में कारण है।

६३९. अक्षान्देविष्यन्ति—देवन क्रिया में अक्ष स्पष्ट ही करण है तथापि 'दिवः कर्म च' (१।४।४३) से करण की कर्मसंज्ञा विधान की है, चकार सूत्र में इसलिये है कि यथाप्राप्त करणसंज्ञा भी रहे। कर्मसंज्ञा कैसे संगत होती है इसके लिये हमारी कृति 'शब्दापशब्दविवेकः' की भूमिका में कारक प्रकरण देखिये।

६४०. विपत्स्यते—विपूर्वक पद् का लृट्।

६४२. स्वैरम्—स्वेच्छया।

६४३. नियामः—'यमः समुपनिविषु च' (३।३।६३) से विकल्प से अप् होता है, पक्ष में घञ् होगा। यह घञन्त रूप है।

६४४. यदि संस्कृतस्यात्यमृतं माधुर्यं पास्यसि न भाषान्तरेषु तर्षिष्यसि ।

६४५. ब्रह्मोज्झो मा स्म भूवमिति यावज्जीवं श्रुतिषु जागरिष्यामि ।

६४६. प्राज्ञो मेधावी वटुरयं क्षेपीयः शास्त्रार्थं प्रतिपत्ता संभावनां च महतीं कर्ष्टा ।

६४७. राघवाः पञ्चचूडाः कर्तारो भवन्ति ।

६४८. कायस्था लेखितारो भवन्ति ।

६४९. स्वर्णकाराः कलां हर्तारो भवन्तीति कलादा उच्यन्ते ।

६५०. पायं पायं काव्यामृतमवधीरयति सुधाम् ।

६५१. हृतसर्वस्वो हि जीवनाशं नश्यति । अर्था हि प्राणिनो वहिश्चराः प्राणाः ।

६५२. अर्थार्थिनः पुरुषवाहं वहन्ति वाहनानि ।

---

६४४. अत्यमृतम्—अतिक्रान्तममृतम् । 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' इस वार्तिक से यहाँ प्रादि तत्पुरुष हुआ ।

६४५. ब्रह्मोज्झः—ब्रह्म उज्झतीति । कर्मण्यण् । उज्झ उत्सर्गे तुदादि परस्मैपदी ।

६४६. क्षेपीयः—क्षिप्रतरम् । क्षिप्र—ईयसुन् । प्रतिपत्ता—प्रतिपूर्वक पद गतौ (आत्मने०) से लुट् प्रथम पु० एक० । कर्ष्टा—कृष्—लुट् ।

६४७. कर्तारः—यहाँ 'तृन्' (३।२।१३५) से तद्धर्म अर्थ में 'कृ' से तृन्प्रत्यय होता है । इस सूत्र में 'आ क्वेस्तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु' (३।२।१३४) यह अधिकार उपस्थित है । 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' (२।३।६९) से कृद्योग में प्राप्त षष्ठी का निषेध हो जाने से अनुक्त कर्म में द्वितीया (पञ्चचूडाः) हुई ।

६४४. यदि तू संस्कृत की अमृत को पछाड़ देने वाली मिठास का पान करेगा, तुझे दूसरी भाषाओं की प्यास नहीं रहेगी।

६४५. मैं कहीं ब्रह्म (=वेद) का त्याग करने वाला न बन जाऊँ, इस हेतु श्रुति में जीवन भर जागरूक रहूँगा।

६४६. बुद्धि और स्मृति युक्त यह ब्रह्मचारी बहुत शीघ्र शास्त्रार्थ समझ लेगा और बड़े मान को प्राप्त करेगा।

६४७. राघवों की पाँच शिखाएँ रखने की कुलरीति (धर्म) है।

६४८. कायस्थ लोग अच्छे लेखक (लिपिकर, अक्षरचण) होते हैं।

६४९. स्वर्णकार सोने में से कुछ अंश चुरा लेते हैं यह उनका स्वभाव है, अतः उन्हें 'कलाद' कहते हैं।

६५०. काव्यामृत पी-पी कर 'सुधा' को कुत्सित समझता है।

६५१. जिस का सर्वस्व नष्ट हो गया वह जीता हुआ ही मर गया, क्योंकि प्राणी का धन उस का बाह्य प्राण है।

६५२. रुपये पैसे की अपेक्षा रखने वाले पुरुष (=प्रेष्य=नौकर) होकर गाड़ियाँ खींचते हैं।

---

६४८. लेखितारः—यहाँ तृन् तत्साधुकारी अर्थ में हुआ है। लेखनं साधु कुर्वन्ति, जो अक्षरविन्यास बहुत सुन्दर करते हैं।

६४९. हर्तारः—यहाँ तृन् तच्छील अर्थ में हुआ है। हरणशीला इत्यर्थः। यहाँ भी पूर्ववत् कला (कर्म) में द्वितीया हुई। कलादाः—कलाम् आददत इति। मूलविभुजादित्वात् कः।

६५०. पायं पायम्—'आभीक्ष्ण्ये णमुल् च' (३।४।२२) से णमुल्। 'नित्यवीप्सयोः' (८।१।४) से द्विर्वचन।

६५१. जीवनाशम्—'कर्त्रोर्जीवपुरुषयोर्नशिवहोः' (३।४।४३) से यहाँ जीव उपपद होने पर नश् धातु से णमुल् होता है।

६५२. पुरुषवाहम्—यहाँ भी (६५१) में कहे प्रमाण से णमुल् होता है। पुरुष का अर्थ यहाँ भृत्य है जैसे 'राजपुरुषः' में।

६५३. पाण्युपघातं मुखे हन्त्युपाध्यायश्छात्रम् ।
६५४. काण्डलावं लुनाति रक्षसां शिरांसि रामः ।
६५५. मृद्भेदं भिनत्ति गोपुराणि वीरः ।
६५६. अहो मुनिप्रभावादारण्यका अपि रामाचारमाचरन्ति ।

६५७. यष्टिग्राहं युध्यन्ते परैः सहसाऽऽक्रान्ताः ।

६५८. चौरश्चौर इत्याक्रोशञ् शय्योत्थायं धावति गृही ।

६५९. नियुयुत्समाना मल्ला बद्धपरिकरा अक्षवाटमवतरन्ति ।

६६०. हेयोपादेये विदित्वा हेयं जिहास, उपादेयं चादित्सस्व ।

---

६५३. पाण्युपघातम्—यहाँ 'करणे हनः' (३।४।३७) से करण उपपद होने पर 'हन्' से णमुल् होता है और अनुप्रयोग भी (कषादिषु यथाविध्यनुप्रयोगः) हन् का ही होता है। पर हन् यहाँ अहिंसार्थक है। इसका ताड़ना अर्थ है।

६५४. काण्डलावम्—'उपमाने कर्मणि च' (३।४।४५) से उपमानभूत कर्म उपपद होने पर धातुमात्र से णमुल् का विधान है। काण्डमिव लुनातीत्यर्थः।

६५५. मृद्भेदम्—यहाँ भी (६५४) में कहे प्रमाण से भिद् धातु से णमुल् हुआ।

६५६. रामाचारम्—यहाँ 'उपमाने कर्मणि च' इस सूत्र में 'च' पूर्व सूत्र से कर्ता का अनुकर्षण करने के लिए है। सो यहाँ उपमानभूत राम कर्ता

६५३. गुरु शिष्य के मुख पर चपत देता है।
६५४. भगवान् राम राक्षसों के सिरों को सरकंडे की तरह काट रहे हैं।
६५५. वीर पुरुष नगर के द्वारों को मिट्टी की तरह फोड़ रहा है।
६५६. आश्चर्य है मुनिप्रभाव से जंगल के लोग भी राम का सा आचरण करते हैं।
६५७. शत्रुओं से सहसा आक्रान्त हुए वे लाठी हाथ में लेकर लड़ रहे हैं।
६५८. चोर-चोर ऐसा चिल्लाता हुआ गृहस्थ शय्या से उठते ही दौड़ता है।
६५९. द्वन्द्व-युद्ध करने की इच्छा से कमर कस कर मल्ल अखाड़े में उतरते हैं।
६६०. त्याज्य और ग्राह्य वस्तुओं को जान कर त्याज्य को त्यागने की इच्छा कर, और ग्राह्य को ग्रहण करने की।

है। आङ्-पूर्वक चर् से णमुल्। रामाचारमाचरन्ति=यथा राम आचरत् तथाऽऽचरन्ति।

६५७. यष्टिग्राहम्—'द्वितीयायां च' (३।४।५३) से त्वरा गम्यमान होने पर ग्रह् से णमुल् होता है। ऐसी जल्दी करते हैं कि यदि लाठी हाथ में आई उसे ही लेकर लड़ना प्रारम्भ करते हैं, आयुधविशेष ढूँढने का उन्हें कोई समय नहीं।

६५८. शय्योत्थायम्—यहाँ 'अपादाने परीप्सायाम्' (३।४।५२) से अपादान (यहाँ शय्या) उपपद होने पर यथापूर्व त्वरा गम्यमान (प्रतीत) होने पर उद् स्था से णमुल् हुआ है। शय्याया उत्थाय इत्यर्थः।

६५९. नियुयुत्समानाः=नियोद्धुमिच्छन्तः। नि-युध्—सन्—शानच्।

६६०. जिहास—ओहाक् त्यागे से सन् करके लोट्। आदित्सस्व—आङ् पूर्वक दा से सन् ततः लोट्। 'पूर्ववत्सनः' (१।३।६२) से आत्मनेपद।

६६१. किमिति मन्दायसे सखे, त्वरितं क्राम। अस्त्यावयोर्भूयानध्वशेषो गन्तव्यः।
६६२. पश्य लोहितायतेऽस्य वदनं क्रोधेन। मा स्म प्रहार्षीदित्यपवाहयाऽऽत्मानम्।
६६३. पुत्त्रिणोऽपि पुत्त्रीयन्ति किमुताऽपुत्त्राः।
६६४. दीर्घोऽध्वा गन्तव्य इत्यश्वीयामः।
६६५. आश्चर्यं यद् भीरुरपि वीरायते।
६६६. इह देशे गुरूयन्ति गुरुपुत्त्रम्।
६६७. अल्पकेऽपि स्वे गेहे यथा सुखायामहे न तथा महत्यपि परवेश्मनि।
६६८. धनीयामो योगक्षेमं वहेमेति न तु धनायामः।

६६९. उदकीयामः स्नास्याम इति, न तूदन्यामः।

---

६६१. मन्दायसे—यहाँ 'भृशादिभ्यो भुव्यच्वेर्लोपश्च हलः' (३।१।१२) से च्व्यर्थ में 'मन्द' से क्यङ् प्रत्यय होता है। अमन्दो मन्दो भवसीति मन्दायसे।

६६२. लोहितायते—अलोहितो लोहितो भवतीति। 'लोहितडाज्भ्यः क्यष्वचनं भृशादिष्वितराणि' इस वार्तिक से क्यष्। 'वा क्यषः' (१।३।९०) से पक्ष में परस्मैपद भी होगा।

६६३. पुत्त्रिणः—बहवः पुत्त्राः सन्त्येषाम्। यहाँ 'भूमा' (=बहुत्व में) मत्वर्थीय इनि प्रत्यय हुआ है। पुत्त्रीयन्ति—पुत्त्रमात्मन इच्छन्ति। 'सुप आत्मनः क्यच्' (३।१।८) से 'पुत्त्रम्' से क्यच् प्रत्यय हुआ है।

६६४. अश्वीयामः—यहाँ भी पूर्ववत् 'अश्वम्' से क्यच् हुआ है—अश्वमात्मन इच्छामः।

६६५. वीरायते—वीर इवाचरति। यहाँ 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च' (३।

६६१. मित्र धीरे क्यों हो रहे हो, जल्दी-जल्दी कदम उठाओ। अभी हमें बहुत सा रास्ता चलना बाकी है।

६६२. देखो इस का मुख क्रोध के मारे लाल हो रहा है। ऐसा न हो यह प्रहार करे, अतः इस से परे हट जाओ।

६६३. पुत्रों वाले भी पुत्र चाहते हैं, पुत्र-विहीनों का तो क्या कहना।

६६४. हमें लम्बा रास्ता चलना है, अतः हमें घोड़ा चाहिये।

६६५. आश्चर्य है भीरु भी वीरता दिखाये।

६६६. इस देश में गुरु-पुत्र के साथ भी गुरु का सा व्यवहार करते हैं।

६६७. अपने छोटे से घर में जो सुख का अनुभव होता है वह दूसरे के विशाल भवन में भी नहीं।

६६८. हम धन चाहते हैं ताकि योगक्षेम (निर्वाह) साध सकें, हमें धन का लालच नहीं।

६६९. हमें पानी चाहिये, हम स्नान करेंगे, हमें प्यास नहीं।

१।११) से क्यङ् होता है। यद् शब्द उपपद होने के कारण यहाँ 'न यदि' (३।२।११३) से लट् न हो सका।

६६६. गुरूयन्ति—यहाँ 'उपमानादाचारे' (३।१।१०) से उपमानभूत कर्म 'गुरु' से आचार (व्यवहार) अर्थ में क्यच् हुआ। 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः' (७।४।२५) से गुरु को दीर्घ होता है।

६६७. सुखायामहे—'सुखादिभ्यः कर्तृवेदनायाम्' (३।१।१८) से क्यङ्। सुखायामहे=सुखं वेदयामहे=सुखमनुभवामः।

६६८. धनीयामः—धनमात्मन इच्छामः। क्यजन्त रूप है। धनायामः—यह भी क्यजन्त है, पर यहाँ गर्ध (लालच अर्थ होने से) क्यच् प्रत्यय परे होने पर 'धनाय' ऐसा निपातन किया है—'अशनायोदन्यधनाया बुभुक्षापिपासागर्धेषु' (७।४।३४)।

६६९. उदकीयामः—उदकमात्मन इच्छामः। प्यास अर्थ में क्यजन्त शब्द 'उदन्य' होगा। इस में भी 'अशनाय—' इत्यादि सूत्र प्रमाण है।

६७०. पुस्तकी भवति पण्डित इति पुस्तकीयन्ति सुमेधसः ।

६७१. वियति पतङ्गायते रविरिति पतङ्ग इत्युच्यते ।

६७२. यत्सत्यं परोक्षस्तवेन भृशायते स्नेहः स्वेषु ।

६७३. इयं पुरन्ध्री तत्तदर्थकामुका स्यादिति किं चित्रम् ।

६७४. इयं जरत्यपि कामुकीति महच्चित्रम् ।

६७५. सम्पन्नमिदं भोज्यं रुच्यं रस्यं चेत्यशनायाविरहेऽप्यशनीयामः ।

६७६. किमिति चिरेणागाः ? कस्तेऽन्तरायोऽभूत् ?

६७७. अद्य स महति प्रत्यूषेऽबुद्ध, तेन प्रचलायितोऽस्ति ।

६७८. यथाऽद्याचारीर्वत्स, मा तथास्तथाऽऽयत्याम् ।

---

६७०. पुस्तकी—पुस्तकानि सन्त्यस्येति । 'भूमा' अर्थ में मत्वर्थीय इनि । पुस्तकीयन्ति—पुस्तकान्यात्मन इच्छन्ति । क्यच् ।

६७१. पतङ्गायते—पतङ्ग इवाचरति । क्यङ् । पतङ्गः पक्षिसूर्ययोः—अमर ।

६७२. भृशायते—इसके लिये (६६१) का टिप्पण देखो ।

६७३. तत्तदर्थकामुका—तस्य तस्यार्थस्य कामुका । कमेरुकञ् । 'लष-पतपदस्थाभूवृष—' (३।२।१५४) से ताच्छीलिक उकञ् होता है । यहाँ षष्ठी समास हुआ है । 'उकप्रतिषेधे कमेर्भाषायामप्रतिषेधः' इस वार्तिक से यहाँ षष्ठी होती है, पश्चात् षष्ठी समास हो जाता है । यहाँ 'कामुक' शब्द से स्त्रीत्व-विवक्षा में टाप् हुआ, ङीष् नहीं, कारण कि 'जानपदकुण्डगोण—' (४।१।४२) से मैथुनेच्छावती अर्थ में ही ङीष् विधान किया है, यहाँ इच्छा-मात्र अर्थ है ।

६७५. अशनायाविरहे—अशनायाया विरहः, तस्मिन् । 'अशनायो-

६७०. जिस के पास बहुत सी पुस्तकें हों वह पण्डित हो जाता है इस लिये बुद्धिमान् पुस्तकों की चाह करते हैं।

६७१. आकाश में सूर्य पक्षी की तरह गति करता है, अतः इसे 'पतङ्ग' कहते हैं।

६७२. सच पूछो तो परोक्ष में की गई स्तुति से बन्धुओं में स्नेह पहले से अधिक हो जाता है।

६७३. यह कुटुम्बिनी उस-उस वस्तु की चाह वाली हो इस में आश्चर्य ही क्या है।

६७४. यह बूढ़ी होने पर भी कामातुर है, यह आश्चर्य की बात है।

६७५. यह भोजन बहुत रुचिकर और रसीला तैयार हुआ है, अतः भूख न होने पर भी खाना चाहते हैं।

६७६. तुम देर से क्यों आये ? तुम्हें कौन सा विघ्न आ पड़ा ?

६७७. आज वह बहुत सवेरे उठा, अतः अब ऊँघ रहा है।

६७८. हे पुत्र आज जैसे तू ने आचरण किया आगे वैसा न करना।

दन्यधनायाः—' (७।४।३४) से क्यजन्त रूप 'अशनाय' निपातन किया है, यदि बुभुक्षा अर्थ हो। इस क्यच्प्रत्ययान्त रूप से 'अ प्रत्ययात्' (३।३।१०२) से 'अ' कृत्प्रत्यय होकर स्त्रीत्व विवक्षा में टाप् होता है।

६७६. आगाः—इण् गतौ से आङ् उपसर्ग होकर लुङ्।

६७७. अवुद्ध—बुध अवगमने दिवा० आ० अनिट् का लुङ् प्रथम पु० एक०। प्रचलायितः—घूर्णितः प्रचलायितः—अमर। प्रचल इवाचरतीति प्रचलायते, क्यङ्, क्त।

६७८. आचारीः—आङ् पूर्वक चर् का लुङ्। 'अतो ल्रान्तस्य' (७।२।२) से वृद्धि। मा तथाः—माङ् उपपद होने पर तन् धातु से लुङ् म० पु० एक०। यहाँ 'तनादिभ्यस्तथासोः' (२।४।७९) से विकल्प से सिच् का लुक् होता है। माङ् उपपद होने पर अट् आगम नहीं होता। आयत्याम्—आयतिरुत्तरकालः स्यात्—अमर। आने वाले समय को आयति (स्त्री०) कहते हैं।

६७९. इदानीमासन्नाऽस्तमनवेलेति मा निपत्था वटो !

६८०. उपरते महात्मनि गान्धिनि न केन चिदपाचि, न केन चिदभोजि, न केन चिदशायि, सर्वत्र सर्वैररोदि ।

६८१. स्वे धनेऽप्यनादृताः प्राञ्चः परधने नतरां जगृधुरिति किमु वक्तव्यम् ।

६८२. चुराशीलोऽयं परिचारकः सुतरां कुशलश्चोरिकायाम् । नाद्यापि कर्मगृहीतो लोप्त्रगृहीतो वाऽभूत् ।

६८३. द्वे अस्य भार्ये । एका पाणिगृहीती, अपरा पाणिगृहीता । उभयत्र चायं समं प्रीयते ।

६८४. कथंकारमिक्षुभङ्गं करोषि ? यथाकारं करोमि तथाकारं करोमि, किं तवानेन ?

---

६७९. मा निपत्थाः—माङ् उपपद होने पर पद गतौ का लुङ् म० पु० एक० । यहाँ 'थास्' परे होने पर 'झलो झलि' (८।२।२६) से सिच् का लोप हो जाता है । नि पूर्वक पद का अर्थ लेटना है ।

६८०. उपरते—उप पूर्वक रमु क्रीडायाम् का क्तान्त । उप यहाँ अर्थ को उल्टा देता है । क्रीडा=चेष्टा । उपरामः=चेष्टा का अभाव । उपरत= निश्चेष्ट=मृत । अपाचि, अभोजि, अशायि, अरोदि—ये क्रम से पच्, भुज्, शी, रुद् के कर्म में लुङन्त रूप हैं ।

६८१. नतराम्—नञ् से तरप् होकर अव्यय प्रकर्ष में आम् प्रत्यय होता है । ऐसे ही सुतराम्, नितराम् इत्यादि शब्द सिद्ध होते हैं । जगृधुः— गृधु अभिकाङ्क्षायाम् दिवा० प० अकर्मक से लिट् में रूप ।

६८२. चुराशीलः—चुरां शीलयतीति । 'शीलिकामिभक्ष्याचरिभ्यो णः' इस वार्तिक से अण् का अपवाद 'ण' होता है । 'चुरा' शब्द 'छत्रादिभ्यो णः' (४।४।६२) के गण में पठित होने से साधु है । चोरिकायाम्—चोरिका=

६७९. अब सायं सन्ध्या होने वाली है, अतः हे ब्रह्मचारिन्, लेटो मत।
६८०. महात्मा गान्धी के देहावसान पर न किसी ने खाना पकाया, और न खाया और न कोई सोया। सर्वत्र सब लोगों ने आँसू बहाये।
६८१. अपने धन में भी बहुत प्रीति न करने वाले प्राचीन (आर्य) दूसरों के धन का लालच नहीं करते थे इसमें क्या कहने की बात है।
६८२. चोरी की आदत वाला यह नौकर चोरी करने में बहुत चतुर है। आज तक चोरी करता हुआ अथवा चोरी के माल के साथ यह नहीं पकड़ा गया!
६८३. इस की दो भार्यायें हैं—एक तो विधि-पूर्वक ब्याही हुई और दूसरी अवैध रीति से। दोनों में इस की एक समान प्रीति है।
६८४. ईख को कैसे तोड़ते हो? जैसे तैसे तोड़ता हूं, तुम्हें इस से क्या?

चोरणम्। 'धात्वर्थनिर्देशे ण्वुल् वक्तव्यः' इस वार्तिक से ण्वुल्। 'चोरस्य भावः कर्म वा' ऐसा विग्रह करने पर तो मनोज्ञादित्वात् वुञ् होकर 'चौरिका' रूप होगा। कर्मगृहीतः—कर्मणि गृहीतः। यहाँ 'कर्म' का अर्थ चोरी है, जैसा कि मृच्छकटिक में 'कृत्वा शरीरपरिणाहसुखप्रवेशं, शिक्षाबलेन च बलेन च कर्ममार्गम्। (३।९)' यहाँ कर्ममार्ग शब्द में स्पष्ट है।

६८३. पाणिगृहीती—गृहीतः पाणिरस्याः। बहुव्रीहि। आहिताग्नि आदि शब्दों में से एक होने के कारण 'वाऽऽहिताग्न्यादिषु' (२।२।३७) से निष्ठान्त 'गृहीत' का परनिपात हुआ। 'पाणिगृहीत्यादीनामर्थविशेषे' इस वार्तिक से 'विधिवत्परिणीता' अर्थ में ङीष्। जो जैसे तैसे भार्या हुई है, उस में यथाप्राप्त टाप्—पाणिगृहीता।

६८४. कथंकारम्—'अन्यथैवंकथमित्थंसु—' (३।४।२७) से णमुल्। यथाकारम्, तथाकारम्—'यथातथयोरसूयाप्रतिवचने' (३।४।२८) से न सहते हुए उत्तर देने में यथा, तथा उपपद होने पर कृ से णमुल्।

६८५. खलसम्पर्कः कस्यात्मनीनो भवति ।

६८६. सम्प्रति जीनोऽयं तुरङ्गः । गतोऽस्य पूर्वः परिस्पन्दः । कर्कशान्यस्याङ्गानीति मन्दमन्दमिह गोचरे संचरति शष्पाणि च चरति ।

६८७. यस्याधन्यस्यात्यायो व्ययः स कथं सुखं निर्वहेत् ।

६८८. अस्ति मे मोदकखादिकायामभिलाषः। विपण्यां मौदकिकमुपेहि मोदकांश्च पञ्चषान् क्रीणीहि ।

६८९. सर्वोऽध्ययनेऽधिक्रियतेऽर्थी समर्थः, न तु सर्वोऽध्यापने ।

६९०. यानीह शुच्याचाराणि कुलानि प्रथितानि येषु परम्परीणमौपाध्यायकमाचार्यकं वा समस्ति तत एवाऽध्यापकाः संग्राह्या इति मे दर्शनम् ।

६९१. स्फटिकविशदेन पयःपूरेण मन्दमन्दमकति मन्दाकिनी ।

६९२. साक्षरा अपि केचित्कृच्छ्रेण वृत्तिं वर्तयन्ति ।

---

६८५. आत्मनीनः—'आत्मन्विश्वजनभोगोत्तरपदात्खः' (५।१।९) से 'आत्मने हितः' अर्थ में 'ख' प्रत्यय हुआ ।

६८६. जीनः—ज्या वयोहानौ क्र्यादि (अकर्मक) से क्त प्रत्यय परे रूप । 'संयोगादेरातो—' (८।२।४३) से निष्ठानत्व । 'ग्रहिज्या—' (६।१।१६) से सम्प्रसारण और 'हलः' (६।४।२) से दीर्घ ।

६८७. अत्यायः—अतिक्रान्त आयम् । प्रादि समास ।

६८८. मौदकिकम्—यहाँ 'तदस्य पण्यम्' (४।४।५१) से ठक् प्रत्यय होता है । मोदकाः पण्यमस्येति । पञ्चषान्—पञ्च वा षड् वा (बहुव्रीहि) । 'बहुव्रीहौ संख्येये डजबहुगणात्' (५।४।७३) से डच् समासान्त हुआ और भ संज्ञा होने से टि (='अष्') का लोप हो गया ।

६८५. दुष्टों की संगति किस के अपने हित में हो सकती है ?

६८६. यह घोड़ा अब बूढ़ा हो गया है। इसकी पहली सी फुर्ती अब नहीं रही। इसके अंग सख्त हो गये हैं अतः यह चरागाह में धीरे-धीरे चलता फिरता है और नई-नई घास खाता है।

६८७. जिस अभागे की आमदनी से खर्च ज्यादा है वह कैसे सुख से निर्वाह कर सकता है ?

६८८. मुझे लड्डू खाने की इच्छा है। बाज़ार में हलवाई के पास जाओ और पाँच छः लड्डू खरीद करो।

६८९. पढ़ने का सब को अधिकार है, जो चाहता हो और पढ़ने की सामर्थ्य रखता हो, पर पढ़ाने का सब को अधिकार नहीं।

६९०. जो पवित्र आचार वाले प्रसिद्ध कुल हैं, जिनका परम्परागत उपाध्याय कर्म अथवा आचार्य कर्म है, उन्हीं में से अध्यापकों को लेना चाहिये, ऐसा मेरा विचार है।

६९१. बिलौर की तरह विमल जल राशि के साथ गङ्गा धीरे धीरे चल रही है।

६९२. पढ़े लिखे भी कई लोग कठिनता से जीविका कमाते हैं।

---

६८९. अर्थी—अवश्यमर्थयते इति। 'आवश्यकाधमर्ण्ययोर्णिनिः' (३।३।१७०) से अवश्यम्भाव अर्थ में णिनि प्रत्यय होता है।

६९०. परम्परीणम्—'परोवरपरम्परपुत्रपौत्रमनुभवति' (५।२।१०) से 'परम्पर' शब्द से 'अनुभवति' अर्थ में 'ख' प्रत्यय होता है। 'परम्पर' शब्द यहाँ 'परपरतर' के स्थान में निपातन किया है। औपाध्यायकम्, आचार्यकम्—'योपधाद् गुरूपोत्तमाद् वुञ्' (५।१।१३२) से भाव कर्म में वुञ् प्रत्यय होता है। उपाध्यायस्य कर्म, आचार्यस्य कर्म। उपाध्याय=गुरु, अध्यापक। उपेत्याधीयते यस्मात् सः। आचार्य का लक्षण—उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः। सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते॥

६९१. अकति—अक अग कुटिलायां गतौ भ्वादि परस्मैपदी।

६९२. वर्तयन्ति=भावयन्ति=साधयन्ति। वृतु वर्तने से णिच्।

६९३. अद्यत्वे शुल्केनैव वितीर्यंते विद्येति ये नेशते शुल्कं वितरीतुं ते न सहन्ते विद्याकणानप्युच्चेतुं किमुत सारस्वतं सर्वस्वमादातुम् ।

६९४. न हि चिरसंरम्भाणि दैवतानि भवन्ति ।

६९५. धर्मपादपोऽप्याविर्मूलोऽधुनोद्वर्तते तदाश्रितश्च लोकः ।

६९६. एकानूकयोरपि समानाभिविनययोरपि द्वयोर्वैचित्र्यं विद्यते रुचीनाम् ।

६९७. यः परः स द्वेष्यो भवति । परश्च मे नास्ति । अहमन्यमाहन्यामित्युद्यन्नेव विलीयते भावः । कथङ्कारमात्मानमाघ्नीय ?

६९८. य आत्मना विस्मितस्तस्मा अर्थवादः स्वदते न भूतार्थवादः ।

६९९. य ईर्ष्याकषायितस्तस्मै परापवादो रोचते स्वस्य चोच्चैर्वादः ।

---

६९३. ईशते—ईश ऐश्वर्ये अदादि आ० लट् प्र० पु० बहु० । सारस्वतम्—सरस्वत्या इदम् । सर्वस्वम्—सर्वं च तत्स्वं च । कर्मधारय ।

६९४. चिरसंरम्भाणि—चिरं संरम्भो येषां तानि । चिरम्—मकारान्त अव्यय है । दैवतानि—देवता एव दैवतम् । दैवतो वा । पुं० में प्रयोग बहुत कम है ।

६९५. उद्वर्तते—उखड़ रहा है, अक्षरार्थ=ऊपर (=बाहिर) आ रहा है । अत एव 'उद्वर्तन' उबटन अर्थ में प्रयुक्त होता है, जिस से शरीर का मैल उभर आता है ।

६९६. एकानूकयोः—समानकुलयोः । 'शीलान्वयावनूके द्वे' इस अमर वचन के अनुसार 'अनूक' नपुंसक है ।

६९३. आज कल शुल्क ले कर ही विद्या दी जाती है, अतः जो शुल्क नहीं दे सकते वे विद्या-कण भी संगृहीत नहीं कर सकते, सरस्वती के सर्वस्व लेने की तो बात दूर रही।

६९४. देवता चिर तक क्रोध नहीं करते।

६९५. धर्म-तरु की जड़ें नंगी हो रही हैं, वह उखड़ रहा है और तदाश्रित लोक भी।

६९६. एक ही कुल में उत्पन्न हुए और एक सी शिक्षा को प्राप्त हुए दो पुरुषों की रुचियाँ भिन्न देखी जाती हैं।

६९७. जो दूसरा हो उस के प्रति द्वेष हो सकता है। मेरे लिये दूसरा रहा ही नहीं। मैं दूसरे पर प्रहार करूँ यह भाव उदय होता हुआ ही विलीन हो जाता है। मैं अपने आप को कैसे मारूँ?

६९८. जो अभिमानी है उसे मिथ्या स्तुति मीठी लगती है, सचाई नहीं।

६९९. जो ईर्ष्या से उपरक्त है उसे दूसरों की निन्दा अच्छी लगती है और अपनी स्तुति।

---

६९७. अन्यमाहन्याम्—यहाँ धातु के सकर्मक होने से 'आङो यमहनः' (१।३।२८) से आत्मने० न हो सका। उद्यन्—उद्पूर्वक इण् गतौ से शतृ। आघ्नीय—यहाँ धातु के स्वाङ्ग-कर्मक होने से आङ् हन् से 'आङो यमहनः' से आत्मनेपद हुआ। लिङ् उत्तम पु० एक० का रूप है।

६९८. विस्मितः—गर्वितः। 'अहो महानस्मि' इस प्रकार के अपने ऊपर आश्चर्य-भाव को 'विस्मय' (विना 'वि'—'स्मय') कहते हैं। दूसरे शब्दों में इसे 'आहोपुरुषिका' कहते हैं। अर्थवादः—स्तुति, निन्दा—रूप मिथ्या वचन। भूतार्थवादः—भूतार्थः—सत्योऽर्थः, तस्य वादः।

६९९. ईर्ष्याकषायितः—कषायो रसविशेषो रागविशेषो वा। ईर्ष्या-कषायोऽस्य संजात इति। 'तदस्य संजातम्—' (५।२।३६) से इतच् प्रत्यय।

७००. अनभ्यन्तरोऽसि निबन्धनकलायां यदेवमक्रममसमर्थं चोपन्यस्यसि ।

७०१. य इच्छेद् वसीयान्वसिष्ठो वा स्यां प्रथितयशा वा लोकस्याऽभिपूजितो वा भवेयं स साहसमाचरेत् ।

७०२. *न हि व्यापारमन्तरेण करतलगताऽपि शुक्तिर्विमुञ्चति मौक्तिकानि ।

७०३. आभणन्त्याङ्गला अनुद्योगो मनसो मण्डूरमिति ।

७०४. दैवं नाम पथ्यदनं भवति संसारमापन्नस्य जीवस्य ।

७०५. किमीश्वरा वयं यदि परस्य कष्टश्रितस्य समुद्धारे नेश्वराः ।

७०६. विभवो हि भूयसा खलीकरोति सुजनम् ।

७०७. सुखसंवेदात्प्राक्तनी दुःखसंवित्तिरौद्धत्यं वारयति प्रह्वत्वं चोपनमयति ।

७०८. अयं नैशिको ब्रह्मचारी कायक्लेशान् विविधान्विषह्य निगमागमानध्यगीष्ट ।

---

७००. असमर्थम्—असम्बद्धार्थम्, बेजोड़ ।

७०१. वसीयान्, वसिष्ठ—वसुमत् शब्द से ईयसुन् और इष्ठन् प्रत्यय करने पर रूप । 'विन्मतोर्लुक्' (५।३।६५) से मतुप् का लुक् हो गया ।

७०५. किमीश्वराः—कुत्सिता ईश्वराः । 'किं क्षेपे' (२।१।६४) से समास हुआ । ईश्वराः—'स्थेशभासपिसकसो वरच्' (३।२।१७५) से ताच्छील्लिक वरच् प्रत्यय । स्त्रीलिङ्ग में टाप् होकर 'ईश्वरा' रूप होगा । पुंयोग में ङीष् होकर ईश्वरी (ईश्वर=शिव, की स्त्री, दुर्गा) ।

७०७. उपनमयति—'ज्वलह्वलह्मलनमामनुपसर्गाद्वा' इस गणसूत्र से

७००. तुम्हें निबन्धन कला का परिचय नहीं जो इस प्रकार क्रमहीन और परस्पर सम्बन्ध-रहित वाक्य-विन्यास करते हो।

७०१. जो चाहता है कि मैं पहले अधिक धन वाला अथवा बहुत बड़े धन वाला हो जाऊँ, अथवा मेरा यश फैल जाय और लोक में सम्मान पाऊँ, वह साहस करे।

७०२. *बिना यत्न के तो हथेली पर पड़ी हुई सीपी भी मोती नहीं छोड़ती।

७०३. अंगरेजों में कहावत है कि उद्यमाभाव मन का ज़ंग है।

७०४. दैव आवागमन में पड़े हुए जीव के लिये यात्रा का भोजन (पाथेय) है।

७०५. हमारा ऐश्वर्य किस काम का यदि हम कष्टापन्न व्यक्ति का उद्धार नहीं कर सकते।

७०६. बहुत बार ऐश्वर्य सज्जन को दुर्जन बना देता है।

७०७. सुखानुभव से पूर्व होने वाली दुःख की अनुभूति अकड़पन को परे रखती है और नम्रता लाती है।

७०८. रात्र्यध्ययन के अभ्यासी इस ब्रह्मचारी ने अनेक शारीरिक कष्टों को सह कर वेद और शास्त्रों का अध्ययन किया।

उपसर्गरहित नम् की मित् संज्ञा नहीं भी होती, उपसर्ग होने पर तो अमन्त होने से नित्य होती है।

७०८. नैशिकः—निशासहचरितमध्ययनं निशा (रात में होने वाले अध्ययन को भी उपचार से निशा नाम दे दिया गया), तदस्य सोढं (जितम् अभ्यस्तम्) इति। तदस्य सोढम् (४।३।५२) से ठञ् प्रत्यय होता है। विषह्य—'परिनिविभ्यः सेवसितसय—' (८।३।७०) से सह् के स् को मूर्धन्यादेश हुआ। निगमागमान्—निगमो वेदः, आगमः शास्त्रम्। अध्यगीष्ट—अधि इङ्—लुङ्।

७०९. अनुभूतदुःखो जनो यदा सुखमश्नुते, व्यृद्धो वा समृध्यति, व्याधितो वोल्लाघते तदाऽयमुत्प्रेक्षते फलितानि मे सुचरितानीति ।

७१०. ये हि पुत्त्रादयोऽभिमता अर्थाः शब्दादयो वा प्रीतिविषयास्तैः समवाये सुखं व्यवाये च दुःखमिति स्थितिः ।

७११. अतिश्वी सेवेति मनस्विनो नैतामिच्छन्ति ।

७१२. अपध्वंस रे लालाटिक ! कार्यकालेऽपसर्पसि । नाऽर्थो मे त्वयका । कामं याहि दिशो दश

७१३. मध्योऽयं छात्रो नातिपटुर्नाऽप्यपटुः । न न तरति परीक्षाः क्रमेण ।

७१४. यो हि विचारस्वातन्त्र्यमपकर्षति स प्रष्ठं जनौघं पृष्ठतः कर्षति ।

७१५. तातोऽस्य सततं विनीतवेषः । अयं चोल्वणनेपथ्यो नट इव वेष्य इति कथं युज्यते ?

---

७०९. उल्लाघते—उद्पूर्वक लाघृ धातु से लट् । राघृ लाघृ द्राघृ सामर्थ्ये भ्वा० आ० । यहाँ सामर्थ्य से रोगकृत दुर्बलता को छोड़ चलने-फिरने आदि की शक्ति प्राप्त करना विवक्षित है । अमर का पाठ भी है—उल्लाघो निर्गतो गदात् ।

७१०. समवाये—संसर्गे । यहाँ नैयायिकों का पारिभाषिक अर्थ नहीं । इस में भाष्यकारादि शिष्टों के वचन प्रमाण हैं । व्यवाये—व्यवायो व्यवधानम् । पृथग्भावः ।

७११. अतिश्वी—अतिक्रान्ता श्वानम् इति । यहाँ 'अतेः शुनः' (५।४।९६) से टच् समासान्त होता है और टित् होने से स्त्रीत्व विवक्षा में ङीप् ।

७१२. लालाटिक—'संज्ञायां ललाटकुक्कुट्यौ पश्यति' (४।४।४६) से अर्थ विशेष में ललाट शब्द से ठक् प्रत्यय होता है । ललाटं पश्यति इति

७०९. दुःख का अनुभव करके जब कोई सुख को प्राप्त करता है, दरिद्र हो कर समृद्ध होता है अथवा रोगी हो कर स्वस्थ होता है तब यह समझता है कि मेरे पुण्य कर्म फलित हो गये हैं।

७१०. ये जो पुत्रादि इष्ट पदार्थ हैं अथवा शब्दादि प्रीति के विषय हैं इन के साथ संयोग होने पर सुख और वियोग होने पर दुःख होता है ऐसी लोक स्थिति है।

७११. सेवा श्ववृत्ति से भी अवर है, अतः मनस्वी (मानी) लोग इसे नहीं चाहते।

७१२. अरे काम से दूर भागने वाले सेवक, दूर हो। मुझे तुझ से कुछ काम नहीं। जिधर चाहो चले जाओ।

७१३. यह छात्र दरमियाने दर्जे का है, न तो बहुत पढ़ु है और न ही मूर्ख। क्रम से परीक्षाएँ पास कर ही रहा है।

७१४. जो विचार की स्वतन्त्रता को कम करता है वह आगे जाने वाली जनता को पीछे खींचता है।

७१५. इस का पिता सदा नम्र वेष रखता है और यह भड़कीले वेष वाला नट की तरह वेष से अपने आप को सजाए रखता है, यह बात क्योंकर युक्त हो सकती है?

लालाटिकः। ललाट (मस्तक) दूर से दीखता है, सो जो स्वामी के मस्तक को दूर से देखते ही परे टल जाता है उसे लालाटिक कहते हैं। अमर का पाठ इसी अर्थविशेष को बताता है—'लालाटिकः प्रभोर्भालदर्शी कार्याक्षमश्च यः'। त्वयका—यहाँ कुत्सित अर्थ में 'अव्ययसर्वनाम्नाम्—' (५।३।७१) से अकच् प्रत्यय होता है।

७१३. मध्यः—'अ साम्प्रतिके' (४।३।९) से यहाँ 'अ' प्रत्यय हुआ।

७१४. प्रष्ठम्—प्रतिष्ठत इति। 'प्रष्ठोऽग्रगामिनि' (८।३।९२) से निपातन किया है। अर्थान्तर में प्रस्थ रूप होगा।

७१५. वेष्यः—'कर्मवेषाद् यत्' (५।१।१००) से यत् प्रत्यय होता है। वेषेण सम्पद्यते शोभते इति।

७१६. मूढाः पङ्गव इव पर्पेण परेण प्रेक्षावता नेया भवन्ति ।

७१७. यः खलु वाने वा कर्तने वा सेवने वा चिरक्रियः सोऽल्पमेव महता कालेन वयति कृणत्ति सीव्यति वा ।

७१८. योऽसन्तुष्टोऽनाशुतुष्टो वा स्यात् स्यादेव स परवान् ।

७१९. द्विविधा दरिद्राः । एके जात्या दरिद्राः, परे समृद्धपूर्वाः सम्प्रति प्रद्राणकाः ।

७२०. अयं दानीयोऽयमदानीय इति विविच्य पात्रवर्षिणो भवत ।

७२१. मदीयं मदर्थं मदीयार्थं च धनं न जनकीयं भवति ।

७२२. यद्यहं परं दुर्गतमुद्धरामि, आत्मानमेवोद्धरे । परं चे-दनुगृह्णामि, आत्मानमेवाऽनुगृह्णे ।

७२३. द्विविधो हि ब्राह्मणो यायावरः शालीनश्च । यः शिलोञ्छेन जीवति, गृहं च नो निर्माति, याहि याहीति याति स

---

७१६. प्रेक्षावता—प्रेक्षा बुद्धिस्तद्वान्, प्रेक्षावान्, तेन ।

७१७. कृणत्ति—कृती परिवेष्टने रुधादि का लट् में रूप । कृती छेदने तुदादि का इस अर्थ में प्रयोग नहीं होता ।

७१८. परवान्—परः स्वाम्यस्यास्तीति । पराधीन, परायत्त ।

७१९. जात्या=जन्मना । प्रद्राणकाः—प्रपूर्वक द्रा कुत्सायां गतौ का निष्ठान्त 'प्रद्राण' होता है, कुत्सा में 'क' प्रत्यय और हुआ ।

७२०. दानीयः—देयमस्मै इति । 'कृत्यल्युटो बहुलम्' (३।३।११३) यहाँ बहुलग्रहण के बल से सम्प्रदान कारक में कृत्य प्रत्यय अनीयर् हुआ ।

७२१. जनकीयम्—'जनपरयोः कुक् च' यह गणसूत्र है । गहादि गण

७१६. जैसे लंगड़े बैसाखी के बल चलते हैं वैसे ही मूर्ख लोग दूसरे बुद्धिमान् पुरुष से चलाये जाते हैं।

७१७. जो बुनने, कातने अथवा सीने में सुस्ती से काम करता है वह बहुत समय में थोड़ा ही बुनता, कातता अथवा सीता है।

७१८. जिसे सन्तोष नहीं अथवा जो जल्दी सन्तुष्ट नहीं होता वह अवश्य पराधीन होगा।

७१९. दो प्रकार के दरिद्र होते हैं—एक वे जो जन्म से ही दरिद्र हैं, दूसरे वे जो पहले समृद्ध रह कर अब दुर्गति को प्राप्त हुए हैं।

७२०. यह दान के योग्य है और यह नहीं ऐसा विवेक कर के पात्र को उदारता-पूर्वक दो।

७२१. मेरा, मेरे लिये और मेरे लोगों के लिये जो धन है वह दूसरे लोगों का नहीं।

७२२. यदि मैं किसी दूसरे दीन का उद्धार करता हूँ, अपना ही उद्धार करता हूँ। यदि दूसरे पर कृपा करता हूँ, अपने पर ही कृपा करता हूँ।

७२३. ब्राह्मण दो प्रकार का होता है—यायावर और शालीन। जो शिलोञ्छ वृत्ति है, अपना घर नहीं बनाता और चलता रहता है

में पढ़ा है। सो यहाँ 'गहादिभ्यश्च' (४।२।१३८) से शैषिक छ प्रत्यय होता है और इस गणसूत्र से कुक् का आगम होता है। जनानामिदं जनकीयम्।

७२२. परं दुर्गतमुद्धरामि—यहाँ क्रियाफल के परगामित्व की विवक्षा में 'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' (१।३।७८) से उद्पूर्वक हृञ् हरणे से परस्मैपद हुआ। कर्त्रभिप्राय (कर्तारमभिप्रैति, कर्ता को जाने वाले) फल की विवक्षा में 'स्वरितञितः कर्त्र०—' (१।३।७२) से आत्मने० होता है—आत्मानमुद्धरे।

७२३. यायावरः—यङन्त 'या' धातु से वरच् प्रत्यय। वरच् 'यश्च यङः' (३।२।१७६) से तच्छीलादि अर्थों में विधान किया गया है। याहि याहि—

भवान्यायावरः। शालीनस्तु निगदव्याख्यातः।

७२४. संस्कृते वाङ्मये वह्नूनां पदानामेकार्थकानां कस्कोऽवान्तरो विशेष इत्यत्र नोद्येमिरे प्राज्ञः, न चोद्यच्छन्तेऽर्वाञ्च इति प्रारिप्स्यते मया पर्यायवचनविवेको नाम ग्रन्थः।

७२५. न हि कर्मयोगिणः किमपि भोग्यमस्तीति सोऽपवृज्यते।

७२६. यदीच्छसि लोको मां जानीयान्न चाऽहं किमपि जानीयां तर्हि ग्राममावस। अथेच्छसि वुध्येय वस्तुसतत्त्वं लोकश्च मां मा स्म वुद्धेति तर्हि नगरमुपवस।

७२७. शमं हि सर्वे शास्त्रैकचक्षुष्का लोकैकचक्षुष्काश्च, कारिता अकारिताश्च कामयन्ते।

७२८. लोकास्तु ह्रस्वं पश्यन्ति न दीर्घम्। अपरं पश्यन्ति न परम्। सान्दृष्टिकमेवाऽनुरुध्यन्ते न तूदर्कम्।

यह क्रियासमभिहार में लोट् है। शालीनः—'शालीनकौपीने अधृष्टाकार्ययोः' (५।२।२०) से निपातन किया है। 'शालाप्रवेशनमर्हति' ऐसी व्युत्पत्ति की जाती है।

७२४. कस्कः—'कस्कादिषु च' (८।३।४८) से विसर्ग को 'स्' होता है। उद्येमिरे—'समुदाङ्भ्यो यमोऽग्रन्थे' (१।३।७५) से आत्मनेपद हुआ। उद्पूर्वक यम उपरमे का लिट् प्र० पु० वहु०। प्रारिप्स्यते—प्र आङ्पूर्वक रभ् धातु के सन्नन्त से कर्म में लट्।

७२५. कर्मयोगिणः—'कुमति च' (८।४।१३) से यहाँ प्रातिपदिकान्तस्थ 'न्' को नित्य ण् होता है। अपवृज्यते—मुच्यते, पृथग् भवति, केवलो भवति। अपवर्ग शब्द मोक्ष अर्थ में नैयायिकादि प्रयोग करते हैं। इससे

वह यायावर कहलाता है। शालीन का अर्थ उच्चारण करते ही स्पष्ट हो जाता है।

७२४. संस्कृत साहित्य में एकार्थक नाना पदों के अर्थों में क्या-क्या अवान्तर विशेष है इस विषय में पूर्व विद्वानों ने यत्न नहीं किया, और वर्तमान में भी यत्न नहीं हो रहा, अतः हम 'पर्यायवचन-विवेकः' नामक ग्रन्थ की रचना करना चाहते हैं।

७२५. कर्मयोगी को कुछ भोगना शेष नहीं रहता, अतः वह मोक्ष को प्राप्त हो जाता है।

७२६. यदि तू चाहता है लोग मुझे जानें और मैं कुछ भी न जानूँ, तो ग्रामवास कर। यदि चाहता है मैं वस्तुओं के स्वरूप को जानूँ और मुझे कोई न जाने तो नगर में रह।

७२७. सब लोग चाहे वे केवल शास्त्र को देख कर चलने वाले हों अथवा केवल लोक को, शिक्षित हों अथवा अशिक्षित, शान्ति चाहते हैं।

७२८. सामान्य जनता की छोटी दृष्टि होती है, दूर-दृष्टि नहीं। वह इस लोक को देखती है, परलोक को नहीं। अभी-अभी होने वाले फल को देखती है, भविष्यत् में होने वाले को नहीं।

उनको दुःख से पृथग्भाव अभिप्रेत है। यही उन का मोक्ष है।

७२६. ग्राममावस, नगरमुपवस—यहाँ 'उपान्वध्याङ्वसः' (१।४।४८) से अधिकरण की कर्मसंज्ञा होकर ग्राम और नगर से द्वितीया हुई।

७२७. शास्त्रैकचक्षुष्काः—शास्त्रमेवैकं चक्षुर्येषाम्। एकमात्र शास्त्र पर चलने वाले। कारिताः—शिक्षिताः। अमर में भी पाठ है—कारित-शिक्षिते। (कहीं-कहीं 'काचितशिक्यिते' ऐसा पाठान्तर भी मिलता है)। क्रिया का शिक्षा अर्थ प्रसिद्ध ही है—क्रिया द्रव्यं विनयति नाद्रव्यम् (कौटल्य)। क्रिया हि वस्तूपहिता प्रसीदति (रघुवंश)।

७२८. सान्दृष्टिकम्—संदृष्टं प्रत्यक्षं प्रयोजनमस्य। 'प्रयोजनम्' (५।१।१०९) से ठञ्।

७२९. बद्धमूला दृढं निखाताः पुंसां हृदि कामाः। ते न सहसा शक्या उद्वर्तयितुम्।

७३०. यथा तपस्तापसं सेधयति न तथाऽन्यत्किञ्चित् । तथाप्यपरिग्रहस्तत्राङ्गभावं यातीति नापज्ञायते।

७३१. बालोऽपि सत्त्वेनोपस्कृतो निःसत्त्वं भीलुकं युवानं विप्रकरोति।

७३२. अत्र विषये सदसती विवेक्तारस्तत्त्वं प्रतिपत्तारः प्रवक्तार एव मानं न वयम्।

७३३. शब्दालङ्कृतिप्रियता ह्युद्वेगकरी रसिकानामिति तां नाद्रियेत।

७३४. यत्रैकेन पदेन शक्योऽभिधित्सितोऽर्थो गमयितुं तत्र पदद्वयं मा प्रयुक्थाः।

७३५. यः खलु निःस्वः स इच्छति स्वो मे स्यात् । यः स्ववान् स इच्छति प्रभूततराः स्वा मे स्युरिति।

७३६. स्वार्था परार्था वा सर्वाऽपि प्रवृत्तिः कामायत्ता। कल्याणप्रकृतय एव केचन परार्थं घटन्ते।

---

७३०. सेधयति—तापसः सिध्यति, तं तपः प्रयुङ्क्ते। यहाँ 'सिध्यतेरपारलौकिके' (६।१।४९) से णिच् परे होने पर आत्व न हो सका, कारण कि वह लौकिक अर्थ की साधना अर्थ होने पर होता है, जैसे अन्नं साधयति। यहाँ सिध् का अर्थ ज्ञान विशेष-सम्पन्न होना है, जिस ज्ञान का परलोक (जन्मान्तर) में प्रयोजन है। अपज्ञायते—अप पूर्वक ज्ञा का अर्थ अपह्नव (इन्कार) है।

७३१. सत्त्वेनोपस्कृतः—सत्त्वेनालङ्कृतः। विप्रकरोति = कदर्थयति। जैसे 'विप्रकृतः पन्नगः फणां कुरुते' इस वाक्य में।

७३२. सदसती—सच्चाऽसच्च। विवेक्तारः—यहाँ विच् धातु से तृन्

७२९. मनुष्यों के हृदयों में (नाना) कामनायें जड़ पकड़ कर जमी हुई हैं, उन्हें एक दम उखाड़ना आसान नहीं।

७३०. जैसे तपस्या तपस्वी को सिद्ध (ज्ञानविशेषसम्पन्न) बनाती है वैसे दूसरी कोई चीज नहीं तथापि 'अपरिग्रह' इस में सहकारी होता है इस से इनकार नहीं हो सकता।

७३१. बच्चा भी जो उत्साह से सम्पन्न है, भीरु युवक को तंग कर देता है।

७३२. इस विषय में अच्छे बुरे में भेद करने वाले, सचाई को जानने वाले अध्यापक ही प्रमाण हैं, हम नहीं।

७३३. शब्दालंकारों में रुचि रसिकों में वैरस्य उत्पन्न करती है इसलिये इसे न अपनाये।

७३४. जहाँ विवक्षित अर्थ का बोध एक पद से कराया जा सके वहाँ दो पदों को प्रयोग मत करो।

७३५. जिस के पास धन नहीं वह धन चाहता है। जो धनवान् है वह और अधिक धनी होना चाहता है।

७३६. सभी प्रवृत्ति चाहे अपने लिये हो चाहे दूसरे के लिये, कामना के अधीन है। मङ्गल स्वभाव वाले कोई ही दूसरों के लिये चेष्टा करते हैं।

प्रत्यय तत्साधुकारी अर्थ में हुआ है। तृन् होने से ही 'सदसती' यहाँ द्वितीया हुई है। तृच् होता तो षष्ठी होती। प्रवक्तारः=अध्यापकाः। प्र पूर्वक ब्रू का अर्थ व्याख्या (प्रवचन) करना, पढ़ाना है। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां मा प्रमदः।

७३४. मा प्रयुक्थाः—माङ् उपपद होने पर प्र पूर्वक युज् का लुङ् में रूप। 'प्रोपाभ्यां समर्थाभ्यां युजेरयज्ञपात्रेषु' (१।३।६४) से यहाँ आत्मने० होता है।

७३५. धनवाची 'स्व' शब्द उभयलिङ्ग है—स्वः, स्वम्। इस अर्थ में यह सर्वनाम नहीं, अत एव जस् परे 'स्वाः' रूप हुआ।

७३६. स्वार्था, परार्था—स्वस्मा इयम्, परस्मा इयम्। 'अर्थेन सह

७३७. इह लोके सत्यनिष्ठा प्रगुणा व्यवहृतिश्च बहुमानाय भवति मानुष्यकस्य ।

७३८. अयं शिवभागवतोऽयं च भागवत इत्येनयोर्विरोधो न युक्तः । कामं भवतूपास्यभेदः ।

७३९. विद्या हि विविधमुपस्कुरुत उपयोक्तुः । सा ह्यस्य चेतः समादधाति, बुद्धिं प्रसादयति, लाघवमपनयति गौरवं चोपनयति ।

७४०. कल्याण ! किं तवोद्वेगस्य कारणम् ? केनार्थी भवसीति विस्रब्धं ब्रूहि ।

७४१. इह जगति सर्वस्य सुखदुःखे अनैकान्तिके इति भूतार्थोऽनपलाप्यः ।

७४२. आगमापायिनोऽर्था उपश्लेषे सुखमुपजनयन्ति विश्लेषे च दुःखम् ।

७४३. कृतमाक्रोशेन, उपादास्त ते स्वरः ।

नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता चेति वक्तव्यम्' इस वार्तिक से अस्त्रपद नित्य चतुर्थी समास होता है ।

७३७. भवति=कल्पते । अत एव अलमर्थ होने से 'नमःस्वस्तिस्वाहा—' (२।३।१६) से 'बहुमान' से चतुर्थी हुई । मानुष्यकस्य—मनुष्याणां समूहो मानुष्यकम् , तस्य । यहाँ 'गोत्रोक्षोष्ट्रोरभ्र—' (४।२।३९) से वुञ् होता है।

७३८. शिवभागवतः—भगवान्भक्तिरस्येति भागवतः । 'भक्तिः' (४।३।९५) से अण् हुआ । शिवस्य भागवत इति शिवभागवतः । 'भगवान् शिवो भक्तिरस्य' ऐसा विग्रह होने पर तो 'भागवच्छिवः' ऐसा रूप होना चाहिये । यहाँ विचित्रता यह है कि विशेषण भगवत् से प्रत्यय आ रहा है और पश्चात् समास हो रहा है । समास होकर पश्चात् प्रत्यय (अण्) होना चाहिये था । पर शिष्टों को यह भी ढंग रुचिकर है और शिष्ट वाणी में प्रमाण हैं ।

७३९. उपस्कुरुते—यहाँ प्रतियत्न (गुणान्तराधान) में कृ को सुट् हुआ

७३७. इस लोक में सत्य में स्थिर स्थिति तथा सरल व्यवहार मनुष्यों के संमान का कारण होते हैं।

७३८. यह भगवान् शिव का भक्त है और यह भगवान् विष्णु का, इतने से इन दोनों में विरोध उचित नहीं, उपास्यभेद भले ही हो।

७३९. विद्या नाना प्रकार से ग्रहीता पुरुष में गुणाधान करती है, वह इसके चित्त को समाहित करती है, बुद्धि को विमल करती है, हल्केपन को दूर कर भारीपन को लाती है।

७४०. भद्र ! तुम्हारी घबराहट का क्या कारण है ? तुम क्या चाहते हो, निःसंकोच होकर कहो।

७४१. इस लोक में सब के सुख-दुःख अनित्य हैं इस तत्त्व से इन्कार नहीं हो सकता।

७४२. आने जाने वाले लौकिक पदार्थ आने पर सुख देते हैं और जाने पर दुःख।

७४३. अब अधिक न रो, तेरा गला बैठ चुका है।

है। 'गन्धनावक्षेपणसेवनसाहसिक्यप्रतियत्न—' (१।३।३२) से प्रतियत्न अर्थ में कृ से आत्मनेपद होता है और 'कृञः प्रतियत्ने' (२।३।५३) से कर्म की शेषत्वविवक्षा में षष्ठी (उपयोक्तुः में) होती है। उपयोक्ता=नियमपूर्वकं विद्यां ग्रहीता।

७४१. अनैकान्तिके—एकान्तेन नियमेन भवत इत्यैकान्तिके, ते न भवत इति, अनियते इत्यर्थः।

७४२. आगमापायिनः—आगमश्चाऽपायश्च, तौ स्त एषाम्। 'द्वन्द्वोपतापगर्ह्यात्—' (५।२।१२८) से मत्वर्थीय इनि।

७४३. कृतम्—यह अलमर्थ में अव्यय है। कृतम्=अलम्=न। करणे तृतीया हुई है। उपादास्त—दीङ् क्षये इस दिवादि (अकर्मक) धातु से लुङ्। 'मीनातिमिनोतिदीङां ल्यपि च' (६।१।५०) से धातु को आत्व होता है। इस धातु का प्रायः उप-पूर्वक प्रयोग होता है।

७४४. अयमचिराढ्योऽयं चाढ्यपूर्वः। कथं जानीषे ? किमत्र ज्ञेयम् ? शीलभेदात् स्फुटो भेदः ।

७४५. देवदत्तो मूत्रपदेन निर्गतो नाऽद्याऽपि परागत इति तमभिक्रुध्यति गुरुः ।

७४६. सर्वो लोक एककः सन्यथार्थं वदति, द्वितीयाद्धि भयं भवतीति द्वितीयं पश्यन्नेव विसंवदति।

७४७. अयं तेऽपहस्तितलज्जो व्यापारोऽभिजाते त्वयि कथं युज्यते ?

७४८. यस्य खलु दाय इति वा सुदाय इति वा पौरुषप्रभाव इति वा दैवाऽनुग्रह इति वा पुष्कला अर्था उपनमन्ति सोऽर्थवान्सुखमश्नुते ।

७४९. प्रायश आदित एव सुखसंवित्तिभाजो विभूतिमन्तः परवेदनां न वेदयन्ते ।

७५०. अमी भित्ताका जीवन्ति भिक्षेमहीति । विरला एव केचिद् भिक्षन्ते जीवेमेति ।

---

७४४. आढ्यपूर्वः—पूर्वम् आढ्यः । सुप्सुपा समासः । 'भूतपूर्वे चरट्' (५।३।५३) इस निर्देश से पूर्वशब्द का परनिपात होता है । अथवा 'पूर्वे भूतपूर्वे' (६।२।२२) के प्रमाण से पूर्वशब्द 'भूतपूर्व' अर्थ में भी प्रयुक्त होता है । 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्' (२।१।५७) से समास होता है ।

७४५. मूत्रपदेन— पद शब्द के बहाने अर्थ में 'पदेऽपदेशे' (६।२।७) यह स्वरसूत्र प्रमाण है । अभिधान कोषों में यह अर्थ दुर्लभ है । तम् अभिक्रुध्यति—'क्रुधद्रुहोरुपसृष्टयोः कर्म' (१।४।३८) से सम्प्रदान की कर्मसंज्ञा होकर द्वितीया हुई ।

७४६. एककः—'एकादाकिनिच्चासहाये' (५।३।५२) से 'असहाय' अर्थ में एक शब्द से आकिनिच्, कन्, और कन् तथा आकिनिच् का लुक् होते हैं, एकाकी, एककः, एकः ।

७४४. यह अभी-अभी धनी बना है और यह पहले धनी रह चुका है। कैसे जानते हो ? यहाँ जानना ही क्या है। शीलभेद से दोनों का भेद स्पष्ट है।

७४५. देवदत्त मूत्र करने के बहाने से निकल गया, अभी तक नहीं लौटा। गुरु जी उस पर कुपित हो रहे हैं।

७४६. हर कोई अकेला होता हुआ सच कहता है, दूसरे से भय होता है, अतः दूसरे को देखते ही मिथ्या बोलता है।

७४७. उच्चकुलोत्पन्न तुझ में यह निर्लज्जता का काम कैसे शोभा देता है?

७४८. जिस को विरसे में अथवा दहेज़ में, पुरुषार्थ के फलस्वरूप अथवा दैवप्रसाद रूप बहुत सा धन प्राप्त होता है वह धनी पुरुष सुख भोगता है।

७४९. प्रायः पहले से ही सुख भोगने वाले धनी लोग पराई पीड़ा को नहीं जानते।

७५०. ये भिखारी लोग इस लिये जीते हैं कि हम भिक्षा करें। थोड़े ही ऐसे हैं जो भिक्षा करते हैं ताकि हम जीते रहें।

---

७४७. अपहस्तितलज्जः—अपहस्तिता उत्सारिता लज्जा यत्र सः। अपसारणार्थो हस्तः=अपहस्तः। 'अपहस्त' से 'णिङ्ङ्गान्निरसने' इस गणसूत्र से णिङ् प्रत्यय होता है—अपहस्तयते। प्रकृत में 'अपहस्ति' धातु है, णिङ् सनादियों में से एक है। इस से 'क्त' हुआ।

७४८. दायः—दीयते पित्रादिभिरिति। पिता आदि से प्राप्त हुआ धन। सुदायः—यौतकम्, हरणम्। युतयोर्वधूवरयोरिदं यौतकम्।

७४९. वेदयन्ते—विद चेतनाख्याननिवासेषु, चुरादि नित्य आत्मनेपदी से लट्।

७५०. भिक्षाकाः—'जल्पभिक्षकुट्ट—' (३।२।१५५) से तच्छीलादि में 'षाकन्' प्रत्यय हुआ है। भिक्षणशीलो भिक्षाकः।

७५१. शास्त्रेऽधीतिन एव विशारदा इति व्यपदेशं लभन्ते न तु प्राधीताः।

७५२. रोगो नाम सर्वोऽपि दुःखकरः। रुजति हि सः।

७५३. अद्याऽभ्रविलिप्ती द्यौरिति मन्द इवाऽऽतपः।

७५४. साराऽसारयोः प्रविवेकविकलोऽप्रतिभश्छात्रः सारे वाचं संहरत्यसारे च प्रपञ्चयति।

७५५. यदेह पश्यामः सन्तः सीदन्त्यसन्तश्च प्रसीदन्ति कृपणा ईश्वरतां भजन्ते वदान्याश्च दीनतां तदा नियतिः प्रभवतीति सहसोदीरयामः।

७५६. संलीनकुक्षयः स्तिमितदृष्टयः स्खलद्गतयः परिम्लानाऽऽकृतयः संस्रस्तशिरोधयश्चैते दरिद्रा कस्य नार्द्रयन्ति चेतः सचेतसः।

७५७. विक्लवोऽयं जनो वाढं कुपितः किं करिष्यति ? केवलं स्वे क्रोधवह्नौ स्वयमेव शलभायिष्यते।

---

७५१. अधीतिनः—अधीतमेभिरिति। 'इष्टादिभ्यश्च' (५।२।८८) से 'इनि' प्रत्यय हुआ। क्तस्येन्विषयस्य कर्मण्युपसंख्यानम्' इस वार्तिक से कर्म (शास्त्र) से सप्तमी हुई। विशारदाः—विगतं शारदत्वमेषाम्। यहाँ शारद शब्द भावप्रधान है, भाव प्रत्यय नहीं हुआ। 'शारद' = अप्रतिभ, अप्रौढ। 'द्वौ तु शारदौ। प्रत्यग्राप्रतिभौ—अमर। प्राधीताः—अध्येतुमारब्धाः। आदिकर्म में 'क्त' हुआ है। 'प्र' आदि कर्म का द्योतक है।

७५२. रोगः—'पदरुजविशस्पृशो घञ्' (३।३।१६) से कर्ता में घञ् होता है। अतएव 'रुजति हि सः' यह वाक्यार्थ संगत होता है।

७५३ अभ्रविलिप्ती—अभ्रैर्विलिप्ता। यहाँ 'क्तादल्पाख्यायाम्' (४।१।५१) से ङीष् हुआ। अभ्रविलिप्ती = अल्पाभ्रा।

७५१. जिन्होंने शास्त्र का अध्ययन किया है वे ही चतुर कहलाते हैं न कि वे जिन्होंने अभी अध्ययन प्रारम्भ किया है।

७५२. रोग तो सभी दुःख देता है, कारण कि यह शरीर को तोड़-फोड़ देता है।

७५३. आज आकाश में पतला सा बादल है, इसलिये धूप कुछ हल्की है।

७५४. सार और असार के भेद को न जानने वाला प्रतिभा-हीन विद्यार्थी सार में संक्षेप करता है और असार में विस्तार।

७५५. जब हम देखते हैं कि यहाँ सज्जन दुःख पाते हैं और दुर्जन सुख, कृपण ऐश्वर्यवान् हैं और उदार दाता दरिद्र हैं तब एकदम मुंह से निकल जाता है—'दैव बलवान् है।'

७५६. साथ लगे हुए पेट वाले, गीली आँखों वाले, लड़खड़ाती चाल वाले, मुर्झाये हुए चेहरों वाले, गिरी हुई गर्दनों वाले ये दरिद्र लोग किस हृदयालु पुरुष के हृदय को पिघला नहीं देते?

७५७. सामर्थ्यहीन यह पुरुष अधिक क्रोध करेगा तो क्या करेगा? केवल अपनी क्रोधाग्नि में स्वयं पतंगा बन कर जल जायगा।

---

७५४. प्रपञ्चयति—पचि विस्तारवचने चुरादि।

७५५. वदान्याः—'वदेरान्यः' इस उणादि सूत्र से वद् से आन्य प्रत्यय होता है। वदति (याचस्व माम्) इति।

७५६. संलीनकुक्षयः—संलीनाः संकुचिताः कुक्षयो जठराणि येषाम्। सम्पूर्वक लीङ् का यही अर्थ है जैसे किसलयसंलयः—पल्लवसंकोचः। स्तिमित-दृष्टयः—स्तिमिते क्लिन्ने दृष्टी दर्शने (नेत्रे) येषाम्। तिम ष्टिम आर्द्रीभावे दिवा० प०। स्खलद्गतयः—स्खलन्ती गतिर्येषाम्। संस्रस्तशिरोधयः—संस्रस्ता ऽवपतिता शिरोधिः शिरोधरा (=ग्रीवा) येषाम्।

७५७. बाढम्—अधिकम्। 'बाढगाढदृढानि च'—अमरकोष में भृशा-र्थक पढ़े हैं। शलभायिष्यते—शलभ इवाचरिष्यति। क्यङ्।

७५८. वत्स ! मा स्म चापलं करोः । शान्तः समाहितश्च भूत्वा पाठेऽवधत्स्व ।

७५९. इह बहवो हृद्याः कमनीया वा न भवन्ति हार्दं च परकीयमाकाङ्क्षन्ति ।

७६०. शीलवानेव काल्यानि प्रतिषेधाक्षराणि 'नैतदेवं विपरीतमेतत्, इदमसत्यवद्यम्' इत्याद्याकाराणि समुद्गरीतुमीष्टे।

७६१. न जातु कश्चिद् विमार्गगमनं प्रत्यभिनिविष्टो गन्तव्यं स्थानं गतः ।

७६२. न ममोपोषणाच्छ्रेयोऽघमर्षणम् इति श्रीगान्धी स्माह ।

७६३. किमस्य शिशोर्वयः ? अयमिदानीं द्वितीयं वर्षमनुभवति ।

७६४. कार्यान्तरासङ्गवशात् त्वरमाणा वयमिह स्थूलोच्चयेन काव्यगुणान् वक्ष्यामः ।

७६५. जीर्यन्ति मे दन्ताः । यदाहमपोऽश्नामि हृष्यन्ति ते वेदयन्ति च ।

७६६. मासतमोऽयं दिवस इति रिक्तार्थभस्त्रेत्यपेक्षिततम-

---

७५८. मा स्म करोः—'स्मोत्तरे लङ् च' (३।३।१७६) से स्म अधिक होने पर माङ् उपपद होने पर लङ् का भी प्रयोग होता है।

७५९. हार्दम्—'हायनान्तयुवादिभ्योऽण्' (५।१।१३०) से 'हृदय' शब्द से (भाव) कर्म में अण् होता है। 'हृदयस्य हृल्लेख—' (६।३।५०) से 'हृदय' को 'हृद्' हो जाता है। हृदयस्य कर्म हार्दम्। हृद्याः— यहाँ 'हृदयस्य प्रियः' (४।४।९५) से यत् प्रत्यय होता है।

७६०. काल्यानि—प्राप्तकालानि । यहाँ 'कालाद्यत्' (५।१।१०७) से यत् प्रत्यय होता है। कालः प्राप्त एषामिति काल्यानि । असत्यवद्यम्—'वदः सुपि क्यप् च' (३।१।१०६) से यहाँ कृत्य प्रत्यय 'यत्' हुआ है। पश्चात् नञ्समास हुआ है।

७५८. पुत्र, ऐसी शरारत मत कर। शान्त और समाहित (=एकाग्र) होकर पाठ में मन लगा।

७५९. इस लोक में बहुत लोग हृदय-प्रिय अथवा सुन्दर नहीं होते पर चाहते हैं कि दूसरे हमारे साथ प्रेम करें।

७६०. शीलवान् ही समयोचित—'यह ऐसे नहीं, यह विपरीत है, यह झूठ है, इस प्रकार के निषेध के वचन कह सकता है।

७६१. विमार्ग पर हठपूर्वक चलता हुआ कोई कभी अपने गन्तव्य स्थान पर नहीं पहुँचा।

७६२. मेरे लिये उपवास से बढ़ कर कोई अघमर्षण (मन्त्र) नहीं ऐसा महात्मा गान्धी जी कहते थे।

७६३. इस बच्चे की क्या उम्र है? इसे दूसरा वर्ष जा रहा है।

७६४. कार्यान्तर में आसक्ति होने से हमें जल्दी है अतः मोटे-मोटे काव्य के गुण कहेंगे।

७६५. मेरे दाँत जीर्ण हो रहे हैं। जब मैं पानी पीता हूँ तो यह दाँतों में लगता है और पीड़ा होती है।

७६६. यह महीने का अन्तिम दिवस है, अतः जेब खाली है, अत्यन्त

---

७६१. विमार्गगमनम्—यहाँ किसी शास्त्र से भी उत्तरपद के 'न्' को णत्व की प्राप्ति नहीं।

७६२. उपोषणात्—उष दाहे भ्वा० प०। उप ओषणम्=उपोषणम्। 'एङि पररूपम्' (६।१।९४) से पररूप एकादेश होता है।

७६४. स्थूलोच्चयेन—अकार्त्स्न्येन। स्थूलोच्चयस्त्वसाकल्ये—अमर। स्थूलस्यार्थस्योच्चयः (सूक्ष्मस्य परित्यागोऽर्थादापन्नः)।

७६५. हृष्यन्ति—शीतपीडया हता भवन्ति। इस अर्थ में 'हृषेर्लोमसु' (७।२।२९) पर 'विस्मितप्रतिघातयोश्चेति वक्तव्यम्' यह वार्तिक प्रमाण है।

७६६. मासतमः—मासस्य पूरणः। यहाँ 'मास' शब्द के संख्यावाचक न होने पर भी डट् होता है, इस में 'नित्यं शतादिमासार्धमाससंवत्सराच्च'

मप्यर्थजातं नाऽर्हामः क्रेतुम् ।

७६७. ये श्रियमाशासते तेभ्योऽपसरति श्रीः, अनाशासानांस्तु समुत्सुकमनुसरतीति विपरीतः क्रमो वेधसः ।

७६८. संक्रीडति दक्षिणं रथाङ्गमस्य शकटस्य । मन्य उपाङ्गमपेक्षते ।

७६९. नेदं रहस्यं पितुः संश्रवण उदाहार्यम् ।

७७०. अयं राजा न भवति, राजमात्र एवाऽयम् । कथं ज्ञायते । अस्य विभवोऽस्ति राष्ट्रं तु नास्ति ।

७७१. अस्य मुखवैरस्यं किमपि जातम् । तेन सुरभिगन्धयो हिमा आपोपि नास्मै स्वदन्ते ।

७७२. कुतश्चित्समातीतं मध्वाहृत्योपभुङ्क्ष्व । एतत्ते कासापनोदं वहूपकरिष्यति ।

७७३. प्रस्कन्दिकागृहीताय तस्मा अपतर्पणं हितम् । अरोचकिने त्वस्मै सौवीरं हितम् ।

(५।२।५७) यह सूत्र प्रमाण है। यह सूत्र डट् को नित्य तमट् का आगम हो, यह विधान करने के लिये है। अप्राप्त डट् विधि में यही ज्ञापक है।

७६८ संक्रीडति—'समोऽकूजने' इस वार्तिक से 'क्रीडोनुसंपरिभ्यश्च' (१।३।२१) से जो आत्मने० प्राप्त था, वह रुक गया, कारण कि यहाँ सम् पूर्वक क्रीड् का अर्थ कूजन है। रथाङ्गम्=चक्रम्। यह शब्द इसी अर्थ में रूढ है। रथ के किसी दूसरे अंग को रथांग नहीं कहते। उपांगम् (पुं०)—यह उपपूर्वक अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु रुधादि प० से घञ् प्रत्यय करने पर रूप बनता है।

७६९. संश्रवणे—संश्रूयतेऽत्रेति संश्रवणम्। यहाँ 'करणाधिकरणयोश्च' (३।३।११७) से अधिकरण में ल्युट् हुआ है।

७७०. राजमात्रः—राज्ञो मात्रा परिच्छद इति राजमात्रा। राजमात्रेव

७८३. चिरायता, हल्दी, हरड़, गिलो—ये आयुर्वेद में बहुत गुण वाली ओषधियाँ कही गई हैं। जैसे आमला कल्याणकारी है वैसे सौंफ।
७८४. प्रातःकाल होने को है, इसलिये समय है कि हम गौओं को दोहें।
७८५. यह गौ प्रतिवर्ष बच्चा देती है, और सुशील है। अतः इस का मूल्य अधिक है।
७८६. क्रोधित होकर मेरा क्या बिगाड़ेगा। तेरा क्रोध निष्फल है यह मैं खूब जानता हूँ।
७८७. अन्त्यजों ने देवमन्दिर में प्रवेश करने का निश्चय किया और गड़बड़ की।
७८८. मैं आप से उम्र में बड़ा हूँ, कितने वर्ष, यह मैं नहीं जानता।

७८९. हेमन्त और शिशिर (पतझड़) को एक करके ऋतुएँ पाँच होती हैं।
७९०. मैं पहले, मैं पहले (ऐसे स्पर्धाभाव से) छात्र पाठों को ग्रहण करना चाहते हैं।
७९१. यह ब्रह्मचारी बुद्धिमान् है पर शरारती है, अतः गुरु जी इस से प्रसन्न नहीं, क्योंकि सुशीलता प्रसन्न करने वाली होती है।

अन्यत्र भी प्रयुक्त होता है, पर प्रायः नञ्-पूर्वक—अवन्ध्यकोपस्य विहन्तुरापदाम्। अवन्ध्यं दिवसं कुर्यात्।

७८८. समाभिः—यहाँ 'पूर्वसदृशसमोनार्थ—' (२।१।३१) इस समास-विधायक शास्त्र से पूर्व के योग में तृतीया इष्ट है यह ज्ञापित होता है।

७८९. समासेन—संग्रहेण, एकीकरणेन।

७९०. अहंपूर्वाः—अहंपूर्वम्, अहम्पूर्वमस्यां क्रियायामिति ये ब्रुवते ते। उपयुयुक्षन्ते—उपपूर्वक युज् का सन्नन्त। उपयोगः=नियमपूर्वकं विद्याग्रहणम्।

७९१. सुमेधसि—'नित्यमसिच् प्रजामेधयोः' (५।४।१२२) से असिच् समासान्त होता है। प्रियंकरम्—यहां 'क्षेमप्रियमद्रेऽण् च' (३।२।४४) से

७९२. शर्करिलायां जगत्यां चिरं पादचारेण विचरतोऽस्याश्वयच्चरणयुगलम् ।
७९३. बहुश्रुतस्याऽप्यस्य व्याहरणचिरेण विरज्यन्ते श्रोतारः ।

७९४. उच्चैःश्रवा अयं सखा नः, तेनोच्चैस्तरां ब्रूहि प्रतिवचनं चेदिच्छसि ।
७९५. शीघ्रवलिपलितोऽयं मानवः । नाऽयं वयसा वृद्धः ।

७९६. वनं च प्राविशाम, अमुह्यंश्च नो दिशः ।
७९७. गोवैद्योऽयमल्पं विजानाति बहु च व्यपदिशति ।

७९८. मित्रगेहं प्राप्त एवायं स्नानभोजने अनुभावितो बहु च संभावितः ।
७९९. *आदाय मार्गशीर्षाच्च द्वौ द्वौ मासावृतुः स्मृतः ।
८००. अस्यै देवतायै प्रतिशयितो भविष्यामि यावन्न प्रसीदतीति श्रद्धाजडः कश्चित्प्रतिजानीते ।

खच् प्रत्यय होता है । अण् होने पर 'प्रियकारः' ऐसा रूप होगा ।

७९२. शर्करिलायाम्—'देशे लुबिलचौ च' (५।२।१०५) से इलच् प्रत्यय हुआ । अश्वयत् श्वि गतिवृद्धयोः भ्वा० प० का लङ् ।

७९३. व्याहरणचिरेण—व्याहरणं च तच्चिरं च तेन । विशेषणसमासो मयूरव्यंसकादिर्वा । ऐसी रचना में 'प्रतिबन्धि चिरकृच्छ्रयोः' (६।२।६) स्वर सूत्र प्रमाण है ।

७९५. शीघ्रवलिपलितः—शीघ्राणि (अकाल्यानीत्यर्थः) वलयः पलितानि च यस्य ।

७९६. अमुह्यंश्च नो दिशः—यद्यपि व्यामोह पुरुष का धर्म है, तो भी व्यवहारवश इसे दिशाओं में आरोपित किया गया है । यहाँ वाक्य-द्वय में

७९२. कंकरीली भूमि पर चिर तक पैदल चलने से इस के पैर सूज गये हैं।

७९३. ये बहुत बड़े विद्वान् हैं तो भी इन के अटक-अटक कर बोलने से श्रोता विरक्त हो रहे हैं।

७९४. इस हमारे मित्र को कुछ ऊँचा सुनता है, अतः यदि चाहते हो कि तुम्हें उत्तर मिले, तो ऊँचे बोलो।

७९५. इस पुरुष के जल्दी ही झुरियाँ पड़ गई हैं और बाल सफेद हो गये हैं। यह उम्र में बहुत बड़ा नहीं।

७९६. ज्यों ही हम ने वन में प्रवेश किया, हमें दिशायें भूल गईं।

७९७. यह अनाड़ी वैद्य जानता बहुत थोड़ा है पर बहुत जानने का बहाना करता है।

७९८. मित्र के घर पहुँचते ही इसे स्नान व भोजन कराया गया और इस का बहुत सत्कार किया गया।

७९९. मार्गशीर्ष से लेकर दो-दो महीनों की एक-एक ऋतु होती है।

८००. इस देवता के सामने धरासन जमा दूँगा जब तक यह प्रसन्न नहीं होता, श्रद्धा से जड़ हुआ-हुआ कोई ऐसी प्रतिज्ञा करता है।

दो चकार क्रियायौगपद्य (क्रियाओं का एक ही समय में होना) को बतलाते हैं।

७९७. गोवैद्यः—यहाँ गो शब्द 'गौर्माणवकः' इत्यादि की तरह 'मूढ' अर्थ में उपचरित हुआ है।

७९८. अनुभू—यहाँ खाने अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। खाना भी एक अनुभव है जैसे देखना, सुनना इत्यादि।

७९९. आदाय = आरभ्य। आरभ्य प्रभृति आदि के योग में पञ्चमी का व्यवहार शिष्ट-संमत है। 'आरभ्य' के योग में द्वितीया भी देखी जाती है।

८००. अस्यै देवतायै—यहाँ 'क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः' (२।३।१४) से गम्यमान क्रिया अनुकूलयितुम् के कर्म में चतुर्थी हुई है।

८०१. विनिद्रस्य मेऽक्ष्णोरेव विभावरी व्यभासीत्। किं करोमि। न हि निद्राऽऽयाति मे नेत्रे।

८०२. अयो बहुध्मातं हिरण्यसंकाशं भवति।

८०३. ततः परमम् इत्युक्त्वा यथादिष्टमाचरन्सभ्याः सत्वराः।

८०४. साधवो हि प्रतिज्ञामपवर्जयन्ति दुःखौघं च न गणयन्ति।

८०५. विद्यागृहीतौ नचिरप्रवृत्तेनाऽप्यनेन च्छात्रेण पश्चात्कृताश्चिरप्रवृत्ताः सतीर्थ्याः।

८०६. नाऽयमर्थो मयि लम्बते। अन्यं प्रार्थयस्व। स ते मनीषितं दद्यात्।

प्रतिशयितः = अभिमुखं शयितः। प्रति शब्द यहाँ आभिमुख्य अर्थ में है।

८०१. विनिद्रस्य—विगता निद्राऽस्येति विनिद्रः, तस्य, उन्निद्रस्य। विभावरी—'आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च' (३।२।७४) से वि पूर्वक 'भा दीप्तौ' आदादिक परस्मैपदी अनिट् धातु से 'वनिप्' करने पर और स्त्रीत्व विवक्षा में 'वनो र च' (४।१।७) से 'वन्' के 'न्' को र् तथा ङीप् प्रत्यय करने पर सिद्धि होती है। विशेषेण भातीति विभावरी। चाँदनी रात को ही मुख्य रूप से 'विभावरी' कहते थे, पर पीछे सामान्यरूप से रात्रिमात्र के लिए प्रयोग होने लगा। व्यभासीत्—विपूर्वक भा से लुङ्। चमक उठी, प्रभात होगई।

८०२. बहुध्मातम्—बहु यथा स्यात्तथा ध्मातं तप्तम्। ध्मा शब्दाग्निसंयोगयोः' यह भ्वादि धातु है। हिरण्यसंकाशम्—हिरण्यतुल्यम्—यह अस्वपद विग्रह नित्य समास है। हिरण्येन संकाशम्—ऐसा विग्रह नहीं कर सकते। इसमें अमर का—'स्युरुत्तरपदे त्वमी। निभसंकाशनीकाशप्रतीकाशोपमादयः' यह वचन प्रमाण है। 'उत्तरपद' समास के चरमावयव में रूढ है।

८०३. परमम्—यह अव्यय अङ्गीकार अर्थ में है। स्यादोमेवं परमं मते—अमर।

आवश्यक चीजें भी हम खरीद नहीं सकते।

७६७. जो लक्ष्मी की चाह रखते हैं उनसे यह परे भागती है, जिन्हें चाह नहीं उनका बड़ी उत्सुकता से पीछा करती है। विधाता का यह कैसा उल्टा क्रम है।

७६८. इस छकड़े का दाहिना पहिया शब्द कर रहा है। मालूम पड़ता है इसे स्नेह की अपेक्षा है।

७६९. यह रहस्य यहाँ मत कहिये, पिता जी सुन लेंगे।

७७० यह राजा नहीं, इसका राजसी ठाठ है। कैसे जाना? इसके पास ऐश्वर्य है, राष्ट्र तो नहीं।

७७१. इसके मुंह का स्वाद बिगड़ गया है, इस कारण सुगन्धयुक्त शीतल जल भी इसे अच्छा नहीं लगता।

७७२. कहीं से एक बरस पुराना शहद लाकर खाओ। इससे तुम्हारी खाँसी को बहुत आराम होगा।

७७३. उसे अतिसार रोग है अतः उसके लिए लंघन अच्छा है। इसे भूख नहीं लगती अतः इसके लिए कांजी अच्छी है।

मात्रा यस्य सः। यहाँ 'सप्तम्युपमानपूर्वपदस्योत्तरपदलोपश्च' इस वार्तिक से उपमानभूत पूर्वपद के साथ बहुव्रीहि समास होता है और उत्तरपद (मात्रा) का लोप हो जाता है।

७७१. सुरभिगन्धयः—शोभनो गन्धो यासां ताः (आपः)। 'गन्धस्येदुत्पूतिसुसुरभिभ्यः' (५।४।१३५) से गन्ध शब्द को इकार समासान्त हुआ।

७७२. समातीतम्—समाऽतीताऽस्य। 'वाऽऽहिताग्न्यादिषु' (२।२।३७) से निष्ठा का परनिपात विकल्प से हुआ। 'समा' का एकवचन में भी प्रयोग होता है। आचार्य का अपना प्रयोग है—समां समां विजायते (५।२।१२)। ते—शैषिकी षष्ठी।

७७३. प्रस्कन्दिका—'रोगाख्यायां ण्वुल् बहुलम्' (३।३।१०८) से स्कन्दिर् गतिशोषणयोः से ण्वुल्। अपतर्पणम्—यहाँ 'अप' अभाव का

७७४. यदि यियासस्सि प्रतिहस्तं समर्प्य यास्यसि। मा स्म मां मुधाऽभिनिवेशेन विहस्तं करोः।

७७५. गतेऽपि हेमन्त उष्णानि बिभर्षि वासांसि। अहो पेलवत्वम्।

७७६. न गर्भिणी कूपमवलोकयेदिति सूत्रकाराः।

७७७. दृढा अस्य दन्तवेष्टाः। प्रपतितदन्तोऽपि शक्तोऽयमेतैरेव धानाश्चर्वितुम्।

७७८. दैवेन परवान्मनुष्यः, नाऽयं यथावशं चरितुमर्हत्यर्थेष्वभीष्टेषु।

७७९. उभयतः कालं मन्दमन्दं बहिः परिक्रामेदुल्लाघो जनः पोषं चेच्छारीरमिच्छेत्।

७८०. न वयं तैलोचिता अन्यत्राऽभ्यङ्गात्।

७८१. *दृष्टान्तो नाम यत्र मूर्खविदुषां बुद्धिसाम्यं यो वर्ण्यं वर्णयति।

७८२. दैवज्ञ ! ईक्षस्व मे। विप्रश्नं चेद् यथार्थं वक्ष्यसि परितोषयिष्यामि त्वा।

द्योतक है। तृप्ति का अभाव। यह उपवास, लंघन का लक्षक है। अपतर्पण शब्द इस अर्थ में चरकसंहिता में प्रयुक्त हुआ है। सौवीरम्---'आरनालक-सौवीरकुल्माषाभिषुतानि तु---अमर।

७७४. विहस्तम्---विहस्तव्याकुलौ समौ---अमर।

७७६. अवलोकयेत्---यहाँ 'अव' का 'नीचा' अर्थ स्पष्टतर है। अवतरति---उतरता है। नीचे की ओर जाता है।

७७८. दैवेन परवान्--- यहाँ परोऽस्याऽस्ति (स्वामी) इति परवान्। 'पर' यहाँ दैव ही तो है। दैव और पर का अभेद है। दैवेन=परेण, तद्वान् इत्यर्थः।

७७४. यदि तू जाना चाहता है तो अपने स्थान पर कोई आदमी देकर जा। व्यर्थ हठ से मुझे अशान्त मत कर।

७७५. हेमन्त चले जाने पर भी गरम वस्त्र पहन रहे हो। कितनी सुकुमारता!

७७६. गर्भिणी कूएँ में न (झुक कर) देखे ऐसा सूत्रकार कहते हैं।

७७७. इसके मसूड़े पक्के हैं। दाँत गिर चुकने पर भी यह इन्हीं से दाने चबा सकता है।

७७८. मनुष्य दैव के अधीन है, अपने इष्ट पदार्थों में भी स्वेच्छापूर्वक नहीं चल सकता।

७७९. बीमारी से उठा हुआ मनुष्य दोनों समय धीरे-धीरे टहले यदि शरीर की पुष्टि चाहता है।

७८०. मालिश को छोड़ कर हम तैल-प्रयोग के आदी नहीं।

७८१. दृष्टान्त वह पदार्थ है जहाँ मूर्ख तथा विद्वानों का एक मत है जो व्याख्येय (साध्य) की व्याख्या (सिद्धि) करता है।

७८२. ज्योतिषी जी! आप मेरे भाग्य की परीक्षा करें। यदि आप मेरे प्रश्नों का ठीक-ठीक उत्तर देंगे तो मैं आप को सन्तुष्ट करूंगा।

---

७७९. उभयतः कालम्—काल से प्रातः सायम् अथवा पूर्वाह्ण और अपराह्ण विवक्षित हैं। उभौ कालौ।

७८०. तैलोचिताः—तैलस्योचिताः। 'उचित' शब्द उच समवायेदिवा० प० से 'क्त' होने पर सिद्ध होता है। उचित=समवेत=सम्बद्ध=अभ्यस्त।

७८२. ईक्षस्व मे—यहाँ ईक्ष् का अर्थ दैवपर्यालोचन है। कर्म (=दैव) के धात्वर्थ में उपसंगृहीत होने से ईक्ष् धातु यहाँ अकर्मक है। इसी अर्थ का आश्रयण करते हुए अमर ने 'विप्रश्निका त्वीक्षणिका दैवज्ञा' ये पर्याय पढ़े हैं। 'राधीक्ष्योर्यस्य विप्रश्नः' (१।४।३९) से यहाँ अस्मद् से चतुर्थी (मे) हुई है।

७८३. कैरातं च दार्वी चाभया चामृता चेत्यायुर्वेदे बहुगुणानि कीर्त्यन्ते। यथा शिवा कल्याणी तथा शतपुष्पेति च स्मर्यते।

७८४. प्रातःकल्पमिव भाति, तद् वेलेयं यद् गा दुहीमहि।

७८५. इयं समांसमीना गौः सुकरा च, तेनातिरिच्यतेऽस्या अर्घः।

७८६. क्रुद्धः किं मां करिष्यसि। वन्ध्यस्ते कोप इति न न वेद।

७८७. अन्त्यजा देवमन्दिरप्रवेशाय मनोऽधरन् संकुलं चाऽकुर्वन्।

७८८. अहं हि पूर्वो वयसा भवद्भ्यः। कियतीभिः समाभिरिति तु न जाने।

७८९. पञ्चर्तवो भवन्ति हेमन्तशिशिरयोः समासेन।

७९०. अहंपूर्वा उपयुयुक्षन्ते छात्राः पाठान्।

७९१. सुमेधस्यप्यस्मिन्नुल्कापातिनि बटौ न प्रीयन्ते गुरुचरणाः। सौशील्यं हि प्रियंकरं भवति।

---

७८४. दुहीमहि— यहाँ 'वेला' उपपद होने पर 'कालसमयवेलासु तुमुन्' (३।३।१६७) से तुमुन् प्राप्त था, पर यद् शब्द के उपपद होने से 'लिङ् यदि' (३।३।१६८) से लिङ् हुआ।

७८५. समांसमीना—यहाँ 'समां समां विजायते' (५।२।१२) से 'ख' प्रत्यय होता है। वि पूर्वक जन् का अर्थ गर्भमोचन है। सुकरा—सुखेन क्रियते दुह्यते सेव्यते वा इति। स्यादचण्डी तु सुकरा—अमर।

७८६. क्रुद्धः किं मां करिष्यसि—ऐसा ही शिष्टव्यवहार है, देखो भारत (वन० २०६।२४)। वन्ध्यः=निष्फलः। वन्ध्योऽफलोऽवकेशी स्यात्—अमर। यहाँ मुख्यरूप में वृक्ष आदिक के निष्फल होने को वन्ध्य कहा है, पर यह

८१५. देवदत्त में मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा—ये चित्तवृत्तियाँ स्वाभाविक हैं, साध्य नहीं।

८१६. यह भूमि पूरी तरह से गोल नहीं, इस का नारंगी का सा आकार है।

८१७. धूर्त को हाथ से पकड़ कर अपमानित करके कमरे से बाहर निकाल दो।

८१८. क्या कर रहे हो ? मैं कुँहड़े का छिलका उतार रहा हूँ।

८१९. भार्याजित अथवा भार्याप्रधान पुरुषों को सुख कहाँ और लोक-संमान कहाँ ?

८२०. दूषित पुरुष को अवसर दिया जाय। यदि वह चाहता है, अपने को निरपराध सिद्ध करे।

८२१. सभी लोग एकत्रित हो गये हैं, केवल मित्र हरिदास की प्रतीक्षा हो रही है।

बहिष्कार्य है वह निन्द्य है अतः इस का निन्द्यार्थ में प्रयोग होने लगा।

८१८. निष्कुला करोमि—यहाँ 'निष्कुलान्निष्कोषणे' (५।४।६२) से डाच् प्रत्यय होता है। यह समास नहीं। हाँ 'निष्कुलाकृत्य' यह गतिसमास है।

८१९. भार्याटकानाम्—भार्यामन्वटतीति भार्याटकः। भार्या के पीछे-पीछे घूमता है। भार्यासौश्रुतानाम्—भार्यया हेतुभूतया सौश्रुताः, तेषाम्। सुश्रुतस्यापत्यं सौश्रुतः। स हि भार्याप्रधानः प्रसिद्धः, तत्साम्यादन्योऽपि सौश्रुत इत्युच्यते। सुश्रुत के पुत्र सौश्रुत की तरह जो कोई दूसरा भी भार्या-प्रधान हो उसे भी 'सौश्रुत' कह दिया जाता है।

८२०. अभियुक्तस्य=दोषेणाभियुक्तस्य। 'दोष' शब्द प्रसिद्धि के कारण छोड़ दिया जाता है। क्षणः क्रियताम्=अवसरो दीयताम्।

८२१. संपतितः—संनिपतितः। पत् का अर्थ 'गति' है। सम् पूर्वक अथवा सम् नि पूर्वक का इकट्ठा होना अर्थ है।

८२२. येन दोषेणाऽयं संभावितः सोऽस्मिन् स्वप्नेऽपि न संभाव्यते ।

८२३. सूर्योदय उत्कुचन्ति कमलानि संकुचन्ति च कुमुदानीत्यत्रान्तरः कोऽपि हेतुः स्यात् ।

८२४. मलिनमस्य कशिपुनः उपबर्हणम् । इदं निर्णेनिग्धि ।

८२५. तत्र साग्राणि पञ्च शतानि पुरुषाः समवायन्निति मया कर्णाकर्णि ज्ञातम् ।

८२६. विरलास्ते महात्मानो य आत्मानं क्लेशित्वाऽपि क्नयन्ति दुःखानि परकीयानि ।

८२७. कल्यः कायोऽनुत्तमं सुखम् । तेन पथ्यं जुषस्व नित्यं च व्यायच्छस्व मा ते वैकृतं भूदिति ।

८२८. त्वचिसारो नाम वंशः । त्वच्येव सारो बलमस्येति व्युत्पत्तेः ।

---

८२२. संभावितः=संयोजितः । सम्-भू-णिच् का मिलाना अर्थ है और सत्कार करना भी, अतः संभाव्यते=सत्क्रियते ।

८२३. उत्कुचन्ति—कुच संकोचने तुदादि । उद् पूर्वक कुच् का अर्थ खुलना, खिलना है । वि आ(ङ्) पूर्वक कुच् भी इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है ।

८२४. कशिपुनः—कशिपु उकारान्त नपुं० है । निर्णेनिग्धि—निर् पूर्वक णिजिर् शौचपोषणयोः जुहोत्यादि से लोट् । 'उपसर्गादसमासे—' (८।४।१४) से यहाँ णत्व हुआ ।

८२५. साग्राणि—अग्रेण=अग्रभागेन सह वर्तमानानि, जिन में कुछ अगली संख्या भी है । समवायन्—सम् अव पूर्वक इण् गतौ का लङ् । कर्णाकर्णि—यहाँ कथंचित् 'तत्र तेनेदमिति सरूपे' (२।२।२७) से समास समझना चाहिये । कर्णाभ्यां च कर्णाभ्यां च गृहीत्वा इदं प्रवृत्तम् । 'अन्येषामपि दृश्यते' (६।३।१३७) से पूर्वपद कर्ण को दीर्घ हुआ । 'इच् कर्मव्यति-

८२२. जो दोष इस पर लगाया गया है, उस की इस में स्वप्न में संभावना नहीं।

८२३. सूर्य के उदय होने पर कमल खिलते हैं और कुमुद बन्द हो जाते हैं इस में कोई आभ्यन्तर हेतु होगा।

८२४. इस सरहाने का गिलाफ़ मैला हो गया है। इसे धो कर साफ़ कर दो।

८२५. वहाँ पाँच सौ से अधिक पुरुष इकट्ठे हुए यह मैंने एक दूसरे को कहते हुए सुना।

८२६. ऐसे महात्मा विरले ही हैं जो अपने को दुःख दे कर भी दूसरों के दुःखों को कम करते हैं।

८२७. स्वस्थ शरीर अनुत्तम सुख है। इसलिये पथ्य का सेवन कर और नित्य व्यायाम कर ताकि तुझे विकार न हो।

८२८. बाँस को 'त्वचिसार' कहते हैं। इस की त्वचा में ही सार है, यह व्युत्पत्त्यर्थ है।

हारे' (५।४।१२७) से इच् (=इ) समासान्त होता है। 'तिष्ठद्गुप्रभृतीनि च' (२।१।१७) के गणपाठ में इच् प्रत्यय पढ़ा हुआ है अतः इच्प्रत्ययान्त 'कर्णाकर्णि' की अव्ययीभाव संज्ञा हुई।

८२६. कनयन्ति—अल्पानि कुर्वन्ति। अल्प–णिच्। यहाँ 'प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे बहुलमिष्ठवच्च' इस गणसूत्र से 'तत्करोति' इस अर्थ में णिच् होने पर इष्ठवद्भाव के कारण (=जो कार्य इष्ठन्प्रत्यय परे होने पर होता है वह णिच् परे होने पर भी हो) 'अल्प' के स्थान में 'कन्' आदेश हो जाता है। परकीयानि—गहादि होने से छ प्रत्यय और 'जनपरयोः कुक् च' इस गणसूत्र से पर को कुक् (क्) का आगम होता है। यहाँ 'प्रातिपदिकान्त—' (८।४।११) से विकल्प से णत्व होने पर 'परकीयाणि' ऐसा रूप भी साधु होगा।

८२८. त्वचिसारः—यह सप्तमी अलुक् समास है। 'हलदन्तात्सप्तम्याः संज्ञायाम्' (६।३।९) अलुक् का विधायक शास्त्र है। यहाँ 'त्वक्सारः'

८२९. कस्य धन्यस्य सम्पन्ना इमा गावः । न केवलमसावर्थं-
वान्भवति पुण्यवानपि ।

८३०. प्राञ्जल एष पन्थाः । सुकरोऽत्र संचारः सर्वेण, बालेन च
वृद्धेन च ।

८३१. मनुष्याणां चित्तमनित्यं भवतीति परैः प्रतिश्रुतेऽर्थे न
विश्वसन्ति लोकाः प्रायेण ।

८३२. समुदितेऽहनि वयं ततः प्रायाम मध्याह्ने च गन्तव्यमायाम ।

८३३. मुष्णन्निव चक्षूंषि चण्डं तपति चण्डरश्मिः । तेन प्रच्छाय-
शीतलं कमपि प्रदेशमन्विष्यामः ।

८३४. शोकपर्यायसन्तप्त एष बालोऽहरहर्मुच्यतेऽङ्गैः ।

८३५. प्रैष्यं रसालानि कतिपयान्यानयेति विपणिं संसाधय ।

८३६. बलवान्मे परिश्रम इतीमां निशामत्रैव वर्तयामि ।

नहीं कह सकते ।

८२९. धन्यस्य—'धनगणं लब्धा' (४।४।८४) से धन शब्द से यत्
प्रत्यय होता है । 'लब्धा' यह तृन्प्रत्ययान्त है और तृन् ताच्छील्यादि अर्थों
में होता है । जो धन को खूब प्राप्त करता रहता है वह 'धन्य' हुआ ।
धनवान् को भाग्यवान् समझते थे, अतः भाग्यवान् मात्र को 'धन्य' शब्द
से कहने लगे ।

८३०. प्राञ्जलः—प्रततोऽञ्जलिरिव । पृषोदरादि होने से साधु । खुले
हुए हाथ की तरह, अर्थात् समतल ।

८३१. अनित्यम्—अध्रुवम्, संचारि ।

८३२. समुदितेऽह्नि—यहाँ सूर्य के निकलने की क्रिया को दिन में
आरोपित करके कहा है । ऐसा व्यवहार शिष्टानुगृहीत है ।

८०१. जागते हुए सारी रात आँखों में निकल गई । क्या करूँ । मेरी आँखों में निद्रा नहीं आती ।

८०२. लोहा बहुत तपाया हुआ सोने की तरह चमकता है ।

८०३. तब 'बहुत अच्छा' यह कह कर सामाजिक लोगों ने जल्दी से आज्ञा का पालन किया ।

८०४. सज्जन अपनी प्रतिज्ञा को पूरा करते हैं और नाना कष्टों की परवाह नहीं करते ।

८०५. अभी अभी विद्याग्रहण में प्रवृत्त हुए इस विद्यार्थी ने देर से प्रवृत्त हुए अपने गुरु-भाइयों को पछाड़ दिया है ।

८०६. यह बात मेरे अधीन नहीं, किसी दूसरे से प्रार्थना कर, वह तुझे मनचाही वस्तु दे सकेगा ।

---

८०४. अपवर्जयन्ति—'अपवर्गे तृतीया' (२।३।६) इस सूत्र की वृत्ति में काशिकाकार का वचन है—अपवर्गः फलप्राप्तौ सत्यां क्रियापरिसमाप्तिः' । सो यहाँ अपवर्जयन्ति =परिसमापयन्ति = पूरयन्ति ।

८०५. नचिरप्रवृत्ताः—'नचिरम्' यह न शब्द (नञ् नहीं) के साथ चिरम् का सुप्सुपा समास है । फिर 'नचिरम्' का 'प्रवृत्ताः' के साथ सुप्सुपा समास है । जहाँ केवल सुबन्त का सुबन्त के साथ समास होता है इस सामान्य विधि के अनुसार समास हो और तत्पुरुष आदि विशेष कुछ भी न हो, वहाँ सुप्सुपा समास कहने की रीति है । सतीर्थ्याः—तीर्थं गुरुः । तरत्यनेनाऽविद्याम् । 'समानतीर्थे वासी' (४।४।१०७) से यत् प्रत्यय होता है और 'तीर्थे ये' (६।३।८७) से 'समान' को 'स' हो जाता है । समाने तीर्थे (गुरौ) वसतीति सतीर्थ्यः । एक ही गुरु के पास रह कर पढ़ने वाला ।

८०६. मयि लम्बते=मुझ पर आधारित है । 'मेरे अधीन है' इस भाव को कहने के लिए यह शिष्टजुष्ट (शिष्ट-सेवित, शिष्टाचरित) उत्तम प्रकार है । मनीषितम्—मनस ईषा = मनीषा । शकन्ध्वादि होने से पर-रूप । मनीषा बुद्धिः संजाताऽत्रेति मनीषितम् = मनोरथः = अभिलाषः ।

८०७. युध्यमानोऽर्जुनोऽसकृत्कर्णप्रहारादात्मानं कथंचिद्ररक्ष, कर्णोऽप्यर्जुनवाणानां लक्ष्यतामुपयास्यन्नेव स्वं कथंचिज्जुगोप ।

८०८. यो हि लोकस्योपकुरुते स सर्वा देवता मुष्ट्योः कुरुते ।

८०९. अद्य शिष्याधिकरणाः कथाः कुर्वतां नश्चिरन्तनमन्तेवासिनमायुष्मन्तं सोमदत्तमगमन्मनः ।

८१०. लुब्धो वृषलः शीतेन । वराकस्य किमप्युत्तरीयं नास्ति ।

८११. असम्वाधमहापथेयं पूः पुराऽपि चिरं राजधान्यभूदस्य देशस्य ।

८१२. यथा रामो नृतमो लोके तथा सीतापि स्त्रितमा बभूव ।

८१३. अयं काशान्कटं करोति, अयं दर्भान् । उभावपि समं कर्मण्यौ ।

८१४. कामं विकत्थताम्, अयं तु मे पादभागपि न भवति ।

---

८०८. लोकस्य—शैषिकी षष्ठी, कर्म की अविवक्षा में सम्बन्धमात्र में षष्ठी । मुष्ट्योः कुरुते—मुट्ठी में कर लेता है । ऐसा ब्राह्मण ग्रन्थों में व्यवहार देखा गया है ।

८०९. शिष्याधिकरणाः—शिष्या अधिकरणं यासां ताः । अधिकरण = आधार=विषय । 'सोमदत्तमगमन्मनः' (सोमदत्त की ओर मन चला गया) ऐसा भारत आदि में व्यवहार है । दूसरा प्रकार भारत आदि में देखा जाता है—सोमदत्तं मनसाऽगमाम (हम सोमदत्त को मन से पहुँच गये) ।

८१०. लुब्धः = पीडितः । लुब्ध के इस अर्थ में 'लुभो विमोहने' (७।२।५४) की वृत्ति प्रमाण है । उत्तरीयम्—उत्तरे उत्तरकाये भवम् । गहादि होने से (४।२।१३८) से छ (ईय) प्रत्यय होता है ।

८०७. लड़ाई में अर्जुन अनेक बार कर्ण के प्रहारों से ज्यों-त्यों बचा और कर्ण भी अर्जुन के बाणों का निशाना बनते-बनते बचा।

८०८. जो लोक-सेवा करता है वह सब देवताओं को अपनी मुट्ठी में कर लेता है।

८०९. आज शिष्यों के विषय में बातचीत करते-करते हमारा ध्यान अपने पुराने शिष्य आयुष्मान् सोमदत्त की ओर चला गया।

८१०. शूद्र शीत से पीड़ित है। बेचारे के पास कुछ ओढ़ने को नहीं।

८११. यह खुली चौड़ी सड़कों वाली नगरी पहले भी चिर तक इस देश की राजधानी रही।

८१२. जैसे राम मनुष्यों में श्रेष्ठ थे, वैसे ही सीता भी स्त्रियों में श्रेष्ठ थी।

८१३. यह काश की चटाई बना रहा है और यह दाभ की। दोनों एक समान कर्म में कुशल हैं।

८१४. कितनी ही डींगें मारे, पर यह तो मेरा पासंग भी नहीं।

---

८११. असम्बाध—सम्बाधः संकटम्=तंग रास्ता, तंग गली। फिर 'सम्बाध' संकोच अर्थ में भी आने लगा। असम्बाधा असंकुचिता महापथा यस्यां सा (पूः)।

८१२. स्त्रितमा—यहाँ 'नद्याः शेषस्यान्यतरस्याम्' (६।३।४४) से विकल्प से ह्रस्व हुआ।

८१३. यहाँ काशान्, दर्भान् में द्वितीया के व्यवहार पर ध्यान देना चाहिए। कर्मण्यौ—कर्मणि साधू निपुणौ। 'तत्र साधुः' (४।४।९८) से यत् प्रत्यय होता है।

८१४. अयं तु मे पादभाक् न—इस भाव को कहने का ऐसा व्यवहार है देखो भारत—न चापि पादभाक् कर्णः पाण्डवानां नृपोत्तम (वन० २५३।९)

८१५. देवदत्तेन हि सहजाता मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाश्चित्तवृत्तयो न तु भाव्याः।

८१६. न हि भूमिरियं परिवर्तुला भवति, नारङ्गाकृतिर्नाम सा।

८१७. धूर्तं हस्ते गृहीत्वा सनिकारमागाराद् यापय।

८१८. किं कुरुषे ? कूष्माण्डखण्डानि निष्कुला करोमि।

८१९. भार्याटकानां भार्यासौश्रुतानां वा कुतः सुखं कुतो वा लोके समादरः।

८२०. अभियुक्तस्य क्षणः क्रियताम्। इच्छति चेत्स्वस्याऽनागस्त्वितां प्रसाधयतु।

८२१. सर्वः संपतितो जनः। केवलं सुहृदे हरिदासाय क्रियते क्षणः।

---

८१५. सहजाताः=जन्मकाल एवाविर्भूताः, स्वाभाविका इत्यर्थः। इस को 'सहभुवः' इस पद से भी कह सकते हैं। सम्बन्ध मात्र विवक्षा में 'देवदत्त' से षष्ठी भी आ सकती है। भाव्याः=साध्याः। भावयति=उत्पादयति =जनयति =साधयति।

८१६. परिवर्तुला—परितो वर्तुला।

८१७. हस्ते गृहीत्वा—यहाँ अधिकरणविवक्षा में 'हस्त' से ऐसे ही सप्तमी हुई है जैसे 'गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्' यहाँ 'केश' से होती है। सनिकारम्—निकारः=नीचैः करणम्, तिरस्कारः। तेन सह यथा स्यात् तथा। यापय—ण्यन्त या का लोट्। यापय=गमय=बहिर्गमय। निस् अथवा निर् उपसर्ग के विना भी ण्यन्त या का यह अर्थ होता है इस में 'याप्य' का अर्थ ही प्रमाण है। 'याप्य' का मूल अर्थ 'निन्द्य' नहीं जो 'याप्ये पाशप्' (५।३।४७) में लिया गया है। इस का मूलार्थ बहिष्कार्य है और इस अर्थ के लिये गौतम धर्मसूत्र (१३,२३) प्रमाण है। जो

८२९. ये बहुत दूध देने वाली गौएँ किस भाग्यवान् की हैं ? वह केवल धनी ही नहीं, पुण्यवान् भी है ।

८३०. यह रास्ता समतल है । इस में हर कोई आसानी से चल फिर सकता है, बाल हो या वृद्ध ।

८३१. मनुष्यों का चित्त अस्थिर होता है, इसलिये दूसरों से प्रतिज्ञात अर्थ में लोग प्रायः विश्वास नहीं करते ।

८३२. दिन निकलते ही हम वहाँ से चल पड़े और मध्याह्न समय अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच गये ।

८३३. आँखें चुँधियाता हुआ सूर्य प्रचण्डता-पूर्वक तप रहा है । अतः कोई छायादार शीतल स्थान ढूँढते हैं ।

८३४. बार-बार शोक से सन्तप्त हुआ यह बालक दिन-प्रति-दिन क्षीण हो रहा है ।

८३५. नौकर को कुछ रसीले आम लाने के लिये बाजार भेजो ।

८३६. मुझे बहुत थकावट हो गई है, अतः मैं यह रात यहीं बिताऊँगा ।

---

८३४. शोकपर्याय०—शोकस्य पर्यायः क्रमः, क्रमवान् शोक इत्यर्थः, तेन सन्तप्तः । अङ्गैः—यहां 'अंग' से अंगस्थ बल अथवा स्थूलता लक्षित होती है ।

८३५. संसाधय—श्रीरामायण में सम् पूर्वक सिध् का जाना अर्थ प्रसिद्ध है । अयोध्याकाण्ड (३६।९) में रामः संसाध्यतामिति ऐसा पाठ है । धातुपाठ में भी षिध गत्याम् भ्वादिगण में पढ़ा है । पर णिच् परे होने पर उसे आत्व (साध्) नहीं हो सकता । अतः यहां दिवादि से णिच् परे होने पर रूप समझना चाहिए । संसाधय=गमय । सिध् से शुद्धगति अर्थ में भी णिच् देखा जाता है जैसे दर्पणकार ने कहा है—'प्रायेण ण्यन्तकः साधिर्निर्यं प्रयुज्यते' । साधयामो वयम्=गच्छामः । इसमें क्या हेतु है, इसे अपने ग्रन्थ 'पदार्थविकासः' में कहेंगे ।

८३६. वर्तयामि=वृत्ताम् अतिक्रान्तां करिष्यामि ।

८३७. दुःखो हि बन्धुभिर्विनाभवो विशेषतः सुहृद्भिः ।

८३८. कालिका रोगा न सुप्रतिकरा भवन्ति भिषक्तमेनापि ।

८३९. रुदन्तं वत्सं मोदकेनोपच्छन्दयतेऽम्बा ।

८४०. संनिहितमात्रे पाठालयाध्यक्षे साकमयाचन्तानध्यायमनध्यायप्रियाश् छात्राः ।

८४१. कतिच्छात्रा ह्यः पाठशाले संन्यधीयन्त । अभितः पञ्चाशतम् ।

८४२. अभित आयाति ते माता शिशो ! क्षणं सहस्व । माऽऽत्मानं भिये दाः ।

८४३. कालाक्षरिकोऽयं ग्रामीणः । न ह्यस्याविदिते इतिहासपुराणे ।

८४४. यत्ता भवन्तस्तिष्ठन्तु । अदूरे शत्रवः ।

८४५. किमकार्षीः कटं देवदत्त ? ननु करोमि भोः ।

८४६. प्रेष्यानुपादाय वयमिह विंशतिः स्मः ।

८४७. भ्राता मे वयसा पञ्चविंशकः । समानहायनोऽयं यज्ञदत्तेन ।

---

८३८. कालिकाः—प्रकृष्टो दीर्घः काल एषाम् इति । 'प्रकृष्टे ठञ्' (५।१।१०८) से ठञ् । सुप्रतिकराः—'ईषद्दुःसुषु—' (३।३।१२६) से खल् प्रत्यय । अकृच्छ्रेण प्रतिकार्याः ।

८४० साकम्—यौगपद्येन, एक साथ ।

८४१. अभितः—इसका अर्थ निकट, समीप भी है । इसमें अमर का 'उपकण्ठान्तिकाभ्यर्णाभ्यग्रा अप्यभितोऽव्ययम्' यह वचन प्रमाण है । 'अभितः परितः समया—'इस वचन से अभितः के योग में 'पञ्चाशतम्' यहाँ द्वितीया हुई । पाठशाले—पाठस्य शाला, पाठशाला, पाठशालम् । 'विभाषा सेनासुरा—' (२।४।२५) से शालान्त तत्पुरुष विकल्प से नपुं० होता है ।

८४२. अभितः—शीघ्रम् । इस अर्थ में अमर ने इसे नानार्थवर्ग में

८३७. बन्धुओं से जुदाई दुःख देती है विशेष कर मित्रों से ।

८३८. पुराने रोगों की चिकित्सा सर्वोत्तम वैद्य के लिये भी आसान नहीं ।

८३९. रोते हुए बच्चे को माता लड्डू देकर मनाती है ।

८४०. पाठशाला के अध्यक्ष के आते ही छुट्टी के प्यारे छात्रों ने एक साथ छुट्टी माँगी ।

८४१. कल पाठशाला में कितने विद्यार्थी उपस्थित थे ? लग-भग पचास ।

८४२. हे बच्चे तेरी माता अभी आ रही है । ज़रा ठहरो । डरो मत ।

८४३. यह ग्रामीण लिखा पढ़ा है । इसे इतिहास और पुराण अज्ञात नहीं हैं ।

८४४. आप तैयार रहें । शत्रु दूर नहीं ।

८४५. देवदत्त ! चटाई बना ली ? जी हाँ बना चुका हूँ ।

८४६. नौकरों समेत हम यहाँ (कुल) २० हैं ।

८४७. मेरा भाई उम्र में २५ बरस का है । यह यज्ञदत्त का हम-उम्र है ।

पड़ा है—समीपोभयतः शीघ्रसाकल्याभिमुखेऽभितः । माऽऽत्मानं भिये दाः—अक्षरार्थ— अपने आप को भय के सपुर्द मत करो । भिये—यह 'भी' का चतुर्थ्यन्त रूप है ।

८४३. कालाक्षरिकः—कालान्यक्षराणि (पठितानि) सन्त्यस्येति । 'अत इनिठनौ' (५।२।११५) से ठन् प्रत्यय मत्वर्थ में हुआ है ।

८४४. यत्ताः—यती प्रयत्ने से क्त । 'यतित' अशुद्ध है ।

८४५. ननु करोमि—यहाँ 'ननौ पृष्टप्रतिवचने' (३।२।१२०) से भूतसामान्य में लुङ् के स्थान में लट् हुआ है । ऐसे स्थल में लट् का प्रयोग ही शास्त्र-सम्मत है इस का ध्यान रखना चाहिये ।

८४७. पञ्चविंशकः—पञ्चविंशतिः (वर्षाणि) परिमाणमस्य वयसः । यद्यपि 'विंशतित्रिंशद्भ्यां ड्वुन्संज्ञायाम्' (५।१।२४) केवल 'विंशति' से आर्हीय

८४८. चिरं विप्रोषितः स गृहान्प्रत्यावृत्तो जरठां मातरमव्यथां दृष्ट्वा न प्राभवद् हर्षाय ।
८४९. अजातव्यञ्जन एष कुमारो वृद्धानप्यधरयतीतिहासनैपुणेन ।

८५०. इदं नाम व्यवहितपूर्वे सर्गेऽस्य काव्यस्य प्रत्यपीपदामेति तत्रैव द्रष्टव्यम् ।
८५१. सर्वतश्चार्यतां दृष्टिः । ज्ञायतां कतमेन दिग्विभागेन गतः स जाल्म इति ।
८५२. राजा देवत्वमापन्न इति भरतस्य श्रुत्वा शुचो वशमगातां रामलक्ष्मणौ ससीतौ ।
८५३. सीतासक्तां प्रियां कथां निशम्य परं प्रमना बभूव रामः ।
८५४. यत्स्वानप्यतिसमधास्तस्य व्युष्टिरियं त्वयावाप्तेति किमत्र चित्रम् ।

अर्थों में 'ड्वुन्' का विधान करता है, तो भी रामायण प्रयोग प्रामाण्य से 'पञ्चविंशति' से 'ड्वुन्' इष्ट है । देखो रामायण (३।४७।१०)। ड्वुन् परे होने पर 'ति विंशतेर्डिति' (६।४।१४२) से 'ति' का लोप हो जाता है ।

८४८. न प्राभवद् हर्षाय—यहाँ प्र पूर्वक भू अलमर्थ (अलम्=शक्त) में प्रयुक्त हुआ है । अतः 'नमः स्वस्तिस्वाहा—' (२।३।१६) से चतुर्थी हुई । हर्षं नियन्तुं नाशक्नोद् इत्यर्थः । इस प्रकार के व्यवहार में कुमारसंभव (६।५९) 'परितोषाय मूर्छते।······नाङ्गानि प्रभवन्ति मे' प्रमाण है। इसी भाव को कहने के लिये दूसरा प्रकार भी है—'गुरुः प्रहर्षः प्रबभूव नात्मनि' (रघु० ३।१७) ।

८४९. अजातव्यञ्जनः=अजातमुखलोमा, अजातश्मश्रुः । अधरयति—अधरान्करोतीति । न्यक् करोति । इतिहासनैपुणेन—इति ह आस 'कहते हैं यह था' इस वाक्य को एक पद मान लिया गया। ऐसे भाषा का विकास होता है । निपुणस्य भावः=नैपुणम् (अण् प्रत्यय), नैपुण्यम् (ष्यञ्),

८४८. चिर तक घर से बाहिर रह कर जब वह घर लौटा तब अपनी माता को राज़ी खुशी देख कर वह हर्ष के मारे फूला न समाया।

८४९. इस कुमार के अभी दाढ़ी मूँछ नहीं आई, तो भी यह इतिहास ज्ञान में वृद्धों को भी नीचा दिखा रहा है।

८५०. इस बात का हम ने इस काव्य के पिछले से पिछले सर्ग में प्रतिपादन (बोधन, ज्ञापन) किया है, अतः वहीं देखें।

८५१. चारों ओर दृष्टि दौड़ाइये। मालूम कीजिये वह साहसी किधर गया है।

८५२. भरत से यह सुन कर कि महाराज का देहान्त हो गया है, सीता सहित राम और लक्ष्मण शोक के अधीन हो गये।

८५३. सीता-सम्बन्धिनी प्यारी कथा को सुन कर राम बहुत प्रसन्न हुए।

८५४. जो तू ने अपनों को भी धोखा दिया उस का यह फल तू ने प्राप्त किया, इस में आश्चर्य क्या है?

नैपुणी स्त्रीत्व में ङीष् और 'य' का लोप।

८५०. व्यवहितपूर्वे—व्यवहितं च तत् पूर्वं च, तस्मिन्। यह 'अनन्तर-पूर्व' का विरोधी शब्द है। प्रत्यपीपदाम—प्रति पूर्वक पद गतौ के ण्यन्त से लुङ्।

८५१. चार्यताम्—चर् णिच्, कर्मणि लोट्।

८५२. देवत्वमापन्नः—देवभूयं गतः। मर कर सब कोई देवत्व=अमरत्व को नहीं प्राप्त करता, पर बन्धुओं की इच्छा होती है कि करे। इसी भाव के कारण मरने अर्थ में ऐसा व्यवहार होने लगा। भरतस्य—यहाँ अपादान न होने से षष्ठी ही साध्वी है, पञ्चमी नहीं। इसके अधिक स्पष्टीकरण और उदाहरणों के लिये 'शब्दापशब्दविवेकः' की भूमिका में कारक प्रकरण देखो।

८५४. स्वान्—ज्ञातीन्। अतिसमधाः—अति-सम् पूर्वक धा का लुङ्। अर्थ है अवञ्चयथाः=ठगा।

८५५. तव भ्राता त्वं च तथा सदृशौ संस्थानेन च वर्णेन च यथा समं स्थितयोर्युवयोर्व्यक्तिं नोपलक्षयन्ति लोकाः ।

८५६. नेदं व्याक्षेपमर्हति कृत्यमिति कालसङ्गः परिहार्यः ।

८५७. कुलूतेभ्यः परं गिरिसङ्कटमिदं सति हिमपाते दुरतिक्रमं भवति ।

८५८. सृष्टश्च मया बाणो निरस्तश्च तव रिपुरिति जानीहि ।

८५९. न हि कर्मसु सज्जन्ते बुद्धिमन्तो भवद्विधाः ।

८६०. सौम्य ! चिरं पर्यटितोऽसि । क्षणं श्रमं मोक्षय । आतिथ्यं नो यादृशं तादृशं गृहाण ।

८६१. वाराणसी नाम शेखरायते विदुष्मतीनां नगरीणाम् । इयं काशिषु जनपदेषु भवतीति काशीत्यप्याख्यायते । वणिजस्त्वेनां जित्वरीत्युपाचरन्ति ।

८६२. *प्रीतिदत्तं न वर्धेत यावन्न प्रतियाचितम् ।

८६३. यदि कालपुरस्कृतं नो वाक्यं न करिष्यसि तदा शोचिष्यसि ।

---

८५५. व्यक्तिम्—व्यज्यते स्पष्टीभवति समष्टिः (जातिः) अत्रेति व्यक्तिः । किसी एक का अपना स्वरूप ।

८५६. व्याक्षेपम्—विलम्बनम्, लटकाना, किसी कार्य को तत्काल न करना । कालसङ्गः—काले सङ्गः प्रतिबन्धः । सज्ज् धातु के तिङन्त व कृदन्त रूप रुकने अर्थ का आश्रय लेकर रामायण में (देखो वाक्य सं० ८५९) बहुत बार प्रयुक्त हुए हैं ।

८५७. गिरिसंकटम्—दर्रा । इस अर्थ में अमर का 'संबाधः संकटं न ना' यह वचन प्रमाण है ।

८५८. सृष्टश्च निरस्तश्च—दोनों वाक्यों में क्रिया के साथ अन्वित एक-

८५५. तेरा भाई और तू आकार और वर्ण में एक दूसरे के इतने सदृश हैं कि एक साथ खड़े हुए तुम दोनों में लोगों को भेद मालूम नहीं पड़ता।

८५६. इस कार्य को स्थगित नहीं किया जा सकता इसलिये विलम्ब मत करो।

८५७. कुल्लू से परे यह दर्रा बर्फ पड़ने पर लंघन-योग्य नहीं रहता।

८५८. मैं ने बाण छोड़ा नहीं कि तुम्हारा शत्रु नष्ट हुआ, ऐसा जान।

८५९. आप जैसे बुद्धिमान् कर्मों में रुकते नहीं।

८६०. भद्र! आप चिर तक घूमे हैं। कुछ समय थकावट उतारिये। जैसे तैसे हमारे आतिथ्य को ग्रहण करो।

८६१. वाराणसी विद्वत्प्रधान नगरियों की शिखामणि है। काशि देश में होने से इसे काशी भी कहते हैं। बनियें तो इसके लिये "जित्वरी" नाम का व्यवहार करते हैं।

८६२. प्रीतिवश दिये हुए धन पर सूद नहीं लगता जब तक वापिस मांगा न जाय।

८६३. यदि कालोचित मेरे वचन को नहीं मानोंगे तो पछताओगे।

एक 'च' क्रिया-यौगपद्य को कहता है।

८६०. श्रमं मोक्षय—ऐसा कहने का ढंग है।

८६१. विदुष्मतीनाम्—विद्वांसोऽत्र सन्तीति विदुष्मती। विद्वस्—मतुप्। 'तसौ मत्वर्थे' (१।४।१९) से विद्वस् की 'भ' संज्ञा हो गई। 'वसोः सम्प्रसारणम्' (६।४।१३१) से सम्प्रसारण हुआ। उपाचरन्ति—व्यवहरन्ति। उप आङ् चर्। वालवायो विदूरं च प्रकृत्यन्तरमेव वा। न वै तत्रेति चेद् ब्रूयाजित्वरीवदुपाचरेत्॥ इस श्लोकवार्तिक के आधार पर यहाँ उप के साथ आङ् का भी प्रयोग किया गया है।

८६३. कालपुरस्कृतम्—कालादृतम्, कालोचितम्।

८६४. वर्णी चेद् गदी स्यादघमर्षणं जपेत् पापापनोदाय ।

८६५. किं तेऽयं सामानग्रामिकः ? नहि सामानदेशिकोऽयम् ।

८६६. कथमाच्छिन्नदर्शनिकाभिरिवास्माभिः समं खेलति चन्द्रः !
८६७. मात्रा विधुरस्य विक्लवस्यास्य शिशोरहर्गणो गतः ।
८६८. गणरात्रे व्यतीते व्याधिता साऽद्यैव कथंचित्कामपि निद्रामसेविष्ट ।
८६९. देहल्यामेकत्र पृष्ठवास्तुनि वसामीति महान्तमूष्माणमनुभवामि ।
८७०. सप्तत्या स्थविरोऽयं जनः पञ्चविंशत्या युवानमेतमतिक्रामति वर्चसा ।
८७१. सौम्य ! अपराद्धस्ते स्वाध्यायकालः । अपूर्वस्तेऽयं प्रमादः ।

८७२. *अनुशिष्याद्धि को नु त्वामपि साक्षाद् बृहस्पतिः ।
८७३. भृगुणा विष्णोर्वक्षसि पार्ष्णिर्दत्तः, विष्णुश्च तं मधुरमभ्युवाद कुशलं च पप्रच्छ ।

---

८६४. वर्णी—वर्णोऽस्यास्तीति । वर्णः = अष्टविधमैथुनपरिहारलक्षणा प्रशस्तिः । यहाँ 'वर्णाद् ब्रह्मचारिणि' (५।२।१३४) से मत्वर्थीय इनि प्रत्यय होता है । इस अर्थ में 'वर्णवान्' नहीं कह सकते ।

८६५. सामानग्रामिकः, सामानदेशिकः—समाने ग्रामे भवः, समाने देशे भवः । 'अन्तः पूर्वपदाट्ठञ्' (४।३।६०) इस सूत्र पर 'तदादेश्च' इस वार्तिक से ठञ् होता है ।

८६६. आच्छिन्नदर्शनिकाभिः—आच्छिन्नं दर्शनं यासु क्रीडासु ताभिः । 'दर्शन' से कन् स्वार्थ में हुआ है । प्रसिद्धि के कारण 'क्रीडा' शब्द छोड़ दिया जाता है। 'सागराम्बरा' के साथ 'पृथिवी' का प्रयोग अनावश्यक समझ

८६४. यदि ब्रह्मचारी रुग्ण हो जाय तो पाप दूर करने के लिये अघमर्षण का जप करे।

८६५. क्या यह तेरे साथ एक गाँव में रहने वाला है? नहीं, यह और मैं एक देश में रहते हैं।

८६६. अहो चाँद हमारे साथ आँख मिचौनी खेल रहा है!

८६७. माता से बिछुड़े हुए इस विह्वल बच्चे को कई दिन हो गये हैं।

८६८. बहुत रातें व्यतीत होने पर उस बीमार स्त्री को आज मुश्किल से कुछ नींद आई।

८६९. दिल्ली में एक मकान के ऊपर के हिस्से में रहता हूँ, अतः मुझे गर्मी लगती है।

८७०. सत्तर साल का यह बूढ़ा पचीस वर्ष के इस युवक से तेज में आगे बढ़ गया है।

८७१. सौम्य! तेरे स्वाध्याय का समय निकल चुका है। ऐसा प्रमाद तुझ से पहले नहीं हुआ।

८७२. तुझे कौन शिक्षा दे सकता है, चाहे बृहस्पति भी क्यों न हो।

८७३. भृगु ने विष्णु की छाती पर लात मारी, विष्णु ने उसे प्रीति-पूर्वक सम्बोधन किया और कुशल पूछा।

कर छोड़ दिया जाता है।

८६८. गणरात्र—बहवो रात्रयः समाहृताः=गणरात्रम्। द्विगु। 'बहु-गणवतुडति संख्या' (१।१।२३) से 'गण' की 'संख्या' संज्ञा है। 'अहः-सर्वैकदेश—' (५।४।८७) से अच् समासान्त होता है। और 'संख्यापूर्वं रात्रं क्लीबम्' इस वार्तिक से 'गणरात्र' नपुं० हुआ।

८७०. सप्तत्या—'प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्' से तृतीया हुई।

८७१. अपराद्धः=(कर्ता में क्त) अपराद्धवान्=अपराधवान्। अपराध यहाँ अतिक्रम-लक्षण है। अतः अपराद्धः=अतिक्रान्तः।

८७३. अभ्युवाद—अभि पूर्वक वद् का लिट्। अभि=आभिमुख्य।

८७४. एवं दुर्नयचेष्टितैस्तुलामारोपयिष्यसि कुलसम्पदम् ।

८७५. राजानं प्रत्युपवेक्ष्यामो यावन्नास्मासु सम्प्रसीदति ।

८७६. स्वहस्तपरिचिह्नितमुपगतं मे देहि । नाहं ते प्रत्ययं गच्छामि ।

८७७. महत्सेवा हि कामितानि दुग्धे । क्षुद्रशुश्रूषा त्वनिष्टफलदाऽपि कदाचिद्भवति ।

८७८. को धर्मः कथंलक्षणः कान्यस्य साधनानि कानि च साधनाभासानीति मीमांस्यम् ।

८७९. आह्वये त्वाम् । मया सह रणं गच्छ । अद्य भवतु बलाऽबलनिर्णयः ।

८८०. चिरमार्तिमापन्नस्य निःसहस्यास्य जनस्य विलुलितानि पदानि ।

८८१. पूर्वमपकृतास्तेऽमित्रा इदानीं लब्धावसरास्ते यापयिष्यन्ति वैरम् ।

८८२. भूतं हित्वा भाविन्यर्थे योऽवलम्बते स मन्दः ।

---

८७४. तुला—यहाँ गौण रीति से तुला=संशय—दोला ।

८७५. राजानं प्रति—राजा के सामने ।

८७६. 'उपगत' का इस अर्थ में याज्ञवल्क्य स्मृति (१।३१९) में प्रयोग आया है । नाहम् इत्यादि वाग्व्यवहार पर ध्यान देना चाहिये ।

८७७. महत्सेवाम्—महतां सेवाम् । यहाँ 'सेवा' 'महत्' के साथ समानाधिकरण नहीं, अतः 'आन्महतः–' (६।३।४६) से महत् को 'आ' न हो सका ।

८७८. साधनाभासानि—साधनवद् आभासन्ते इति । यहाँ 'साधन' विशेष्य है जो पुनरुक्तिभय से छोड़ दिया जाता है ।

८७४. इस प्रकार के दुर्व्यवहारों से तू अपने कुल की लक्ष्मी को संशय में डाल देगा ।

८७५. राजा के सामने धरना मार कर बैठ जायेंगे जब तक कि हम पर कृपा न करे ।

८७६. अपने हस्ताक्षर करके रसीद दो । मुझे आप पर विश्वास नहीं ।

८७७. बड़ों की सेवा इष्ट पदार्थों को देती है, क्षुद्र की सेवा से तो कभी-कभी अनिष्ट भी होता है ।

८७८. धर्म क्या वस्तु है, इस का क्या लक्षण है, इस के कौन से साधन हैं, कौन से साधनाभास हैं, इस पर विचार करना चाहिये ।

८७९. मैं तुझे ललकारता हूँ । मेरे साथ युद्ध करो । आज कौन बलवान् है कौन दुर्बल है, इस का निर्णय हो जाय ।

८८०. चिर रोग से अत्यन्त शिथिल हुए इस पुरुष की टाँगें लड़खड़ाती हैं ।

८८१. जिन शत्रुओं के प्रति तू ने पहले अपकार किया था वे अब अवसर पाकर तुझ से वैर निकालेंगे ।

८८२. वर्तमान में सिद्ध अर्थ को छोड़ कर जो भावी अर्थ का आश्रय लेता है वह मूर्ख है ।

---

८८०. विलुभितानि—व्याकुलानि । 'लुभो विमोहने' (७।२।५४) से क्त्वा व निष्ठा में इट् का विधान किया है जब विमोहन (=व्याकुलीकरण) अर्थ हो । 'विलुभिताः केशाः' ऐसा भी कहते हैं ।

८८१. यापयिष्यन्ति=प्रतिगमिष्यन्ति, निर्यातयिष्यन्ति, लौटा देंगे । आर्यों में वैर को ऋण वा न्यास समझा गया है जिसे समय आने पर लौटाना होता है । हिन्दी में 'प्रतिशोध' शब्द भी इस बात का सूचक है ।

८८२. मन्दः—मन्द के नाना अर्थ हैं—मूढाल्पापटुनिर्भाग्या मन्दाः—अमर ।

८८३. सखे देवदत्त ! अद्य मन्द इवासि कथय कस्त्वा रुजति रोगः ।

८८४. प्रायेण भिक्षामात्रं न ददाति याचितो लोक आढ्यतमोऽपि ।

८८५. कथय केनासि हरिणः कृशः । किं ते करवाणि ?

८८६. अद्यैव चिरन्तनाय सख्ये यज्ञदत्ताय प्रहिणोमि । संनिहित-मात्रे च तस्मिन्स्वं वक्तव्यं पल्लवयिष्यामि भूयसे वैशद्याय ।

८८७. सर्वमिदमुत्तानम् । नेदं व्याख्यागम्यं प्रौढैकगम्यं वा ।

८८८. युधिष्ठिरो द्यूतेन सर्वस्वमहारयत् । द्रौपद्यप्यभ्यन्तरा सर्वस्व इति तस्या हारणाऽप्यर्थात्सिद्धा ।

८८९. बालोदितमिदं वचो निशम्य सर्वे सदस्याः स्वनवद् हसन्ति ।

---

८८३. मन्द=अपटु=सुस्त, असुस्थ, अस्वस्थ ।

८८४. भिक्षामात्रम्—भिक्षायास्तुल्यप्रमाणम् । इस अर्थ में 'मात्रोपज्ञोपक्रमच्छाये नपुंसके' (६।२।१४) की वृत्ति प्रमाण है । यह अस्वपदविग्रह षष्ठी समास है । आढ्यतमः—सर्वेषामतिशयेन आढ्यः । एत्य ध्यायन्त्येन-मित्याढ्यः ।

८८६. यज्ञदत्ताय प्रहिणोमि—यहाँ 'दूतम्' आदि पद को छोड़ने की रीति है । देखो महाभारत (सभा० ४९।५०) । पल्लवयिष्यामि—यहाँ 'पल्लववत्' से णिच् किया गया है, 'तत्करोति' इस अर्थ में । इष्ठवद्भाव से मतुप् का लुक् हो जाता है । वैशद्याय—विशदस्य भावः=वैशद्यम् ।

८८७. उत्तानम्—ऊर्ध्वं तन्यत इति । यह गम्भीर का प्रतियोगी है ।

८८३. मित्र देवदत्त ! आज तुम कुछ अस्वस्थ मालूम देते हो। कहो तुम्हें क्या रोग सता रहा है।

८८४. प्रायः जितना माँगो उतना कोई नहीं देता चाहे कितना ही धनी क्यों न हो।

८८५. कहो तुम किस कारण पीले और दुबले हो रहे हो। मैं तुम्हारी क्या सेवा करूँ ?

८८६. आज ही मैं अपने मित्र यज्ञदत्त को बुला भेजता हूँ। उस के आते हीं अपने वक्तव्य को विस्तार से कहूँगा ताकि अधिक स्पष्ट हो जाय !

८८७. यह तो अत्यन्त स्पष्ट है। व्याख्या से जाना जाय ऐसा नहीं, केवल प्रौढों की पहुँच में हो ऐसा भी नहीं।

८८८. युधिष्ठिर ने जूए में सर्वस्व हार दिया। द्रौपदी भी सर्वस्वान्तर्गत है अतः उसका हारना भी बिना कहे सिद्ध है।

८८९. बच्चे के इस वचन को सुनकर सभी सदस्य खिलखिलाकर हँस पड़े।

स्पष्ट अर्थ में उपचरित (गौण रूप से प्रयुक्त) होता है। प्रौढैकगम्यम्—प्रौढेन एकेन गम्यम् यह अर्थ है, विग्रह नहीं, कारण कि त्रिपद तत्पुरुष नहीं होता। ऐसा विग्रह होना चाहिये—एकेन गम्यम्=एकगम्यम्। प्रौढेन एकगम्यम् इति प्रौढैकगम्यम्। शिवभागवतवत्समासः। शिवभागवतवत् समासों के नाना उदाहरणों के लिये हमारी कृति 'व्याकरणचन्द्रोदयः' देखो।

८८८. अभ्यन्तरा सर्वस्वे—यहाँ सप्तमी का ही प्रयोग व्यवहारानुकूल है। 'अभ्यन्तरोऽहं लोके न त्वहं लोकः' यह भाष्यकार का वचन है।

८८९. बालोदितम्—बालेन उदितं कथितम्। उदित—वद्+क्त। स्वनवद्=सशब्दम्।

८९०. एवं प्रत्युत्थेयेष्वप्रणतस्त्वं किमिति व्रीडां न कुरुषे ?

८९१. एवं सन्दिश्यतां प्रियाय नो वयस्याय—सर्वे वयं त्वयि कृतक्षणाः। अत्येति कालः। तेन त्वरिततरां संनिधत्स्वेति।

८९२. सर्वं भवतां वाचि बद्धं न यत्नसाध्यम्।

८९३. इदानीं विश्रान्ताः कल्पाः क्षणिनो गुरुचरणा इत्युपसद्य व्याकरणमधीये।

८९४. दिशां विजेता रघुस्तांस्तान्राज्ञो विजित्य करे न्यवेशयत्, मेदिनीं तु नाहरत्।

८९५. तावत्येव स द्रुतगतिः पलायितः। क्षणेन चातिक्रान्तो लोचनगोचरम्।

८९६. एषोऽहं कालं करोमि येन त्वया कृत्यमिदं निर्वर्तनीयम्।

८९७. 'एवं त्वं पुत्रशोकेन राजन्कालं करिष्यसीति श्रवणस्य जनको दशरथं शशाप।

८९८. यो हि दर्पेण बलात्कन्यां कुर्याद्विमूढधीः स लोके पापतमो मतः।

८९०.—प्रत्युत्थेयेषु—जिन के प्रति, जिन को आते देख कर आसन से उठना चाहिये। व्रीडां न कुरुषे—यहाँ कृ का अर्थ अनुभव करना है। कृ धातु के नाना अर्थों के लिये हमारी कृति प्रस्तावतरङ्गिणी में 'करोतिना सर्वधात्वर्थानुवादः क्रियते' इस नाम का निबन्ध पढ़िये।

८९३. विश्रान्ताः—विगतश्रमाः। 'वि' उपसर्ग यहाँ धातु के अर्थ को उल्टा देता है, अथवा उस के अभाव को कहता है, जैसे विकाङ्क्षा, अपसर्पण इत्यादि में। कल्पाः—कल्पन्ते समर्था भवन्तीति। क्षणिनः—क्षणो निर्व्यापारा स्थितिर् अस्त्येषाम् इति। क्षण—इनि।

८९०. संमान के योग्य पुरुषों के प्रति प्रणाम न करता हुआ तू लज्जित क्यों नहीं होता ?

८९१. हमारे प्यारे मित्र को यह सन्देश दीजिये—हम सब आप की प्रतीक्षा कर रहे हैं। समय बीता जा रहा है। अतः बहुत जल्दी आइये।

८९२. सब कुछ आप की आज्ञा के अधीन है, यत्न की अपेक्षा नहीं।

८९३. अब गुरु जी आराम कर सशक्त तथा निर्व्यापार हैं अतः उनकी सेवा में जाकर व्याकरण पढ़ता हूँ।

८९४. दिग्विजय करके महाराज रघु ने उन-उन राजाओं पर कर लगा दिया, पर उनसे उनका राष्ट्र नहीं छीना।

८९५. उतने में ही वह तेज़ चलता हुआ भाग गया और क्षण भर में आँखों से ओझल होगया।

८९६. मैं काल की अवधि नियत करता हूँ तब तक तुम्हें यह कार्य करना होगा।

८९७. इस प्रकार तू (भी) हे राजन्, पुत्रशोक से मरेगा ऐसा श्रवण के पिता ने महाराज दशरथ को शाप दिया।

८९८. जो मूढ़ घमंड में आकर बलात्कार से कन्या को दूपित करे वह लोक में पापिष्ठ माना गया है।

---

८९४. करे न्यवेशयत्—ऐसा ही कहने की रीति है। तेषु करं न्यवेशयत्, ऐसा नहीं कह सकते।

८९६. कालं करोमि—अवधिं करोमि नियमयामि। काल से यहाँ 'कालावधि' अभिप्रेत है।

८९७. राजन्कालं करिष्यसि—यह तो साक्षात् रामायण का पाठ है। 'काल' से यहाँ 'आयुष्काल' जीवितात्रधिकाल अभिप्रेत है। कृ धातु समाप्त करने अर्थ में है, आयुः समापयिष्यसि, मरिष्यसीत्यर्थः।

८९८. कन्यां कुर्यात्—कृ धातु का परामर्शन (अवमर्शन), परस्त्रीगमन, दूषित करना भी अर्थ है। इस के लिये देखो मनु० (८।३६७)।

८९९. ते हि सांयात्रिकाः पारेसमुद्रं वाणिज्येन वर्तयन्तो विंशतिं वत्सरांश्चक्रुः।

९००. नखान्कुरु। अतिवृद्धा इमे तद्वति कुत्सां प्रयोजयन्ति सभासु सुदिनासु।

९०१. विचर्चिकातः कुरु, नोचेदतिवृद्धिमुपेतायामस्यां परं ते दौःस्थ्यं भविष्यति।

९०२. दृढं श्रान्तोऽसि। पादौ ते करोमि। इदं त्वां सुखाकरिष्यति।

९०३. यदुत्पतन्तः पतन्तः प्रगृह्य पञ्जरस्थाः क्रियन्ते पुरुषेण विनोदयाम्यात्मानमेभिरिति साऽस्य परा स्वार्थपरता।

९०४. प्रवाचोऽपि लेखने संकुचन्ति। कथं चित्प्रवृत्ताश्चापशब्दप्रायं नीरसं विरसं पुनरुक्तवदनन्वितं च प्रणयन्ति।

---

८९९. सांयात्रिकाः—सांयात्रिकः पोतवणिक्—अमर। 'संयात्रा' समुद्रयात्रा अर्थ में रूढ है। संयात्रा प्रयोजनमस्येति सांयात्रिकः। पारेसमुद्रम्—'पारे मध्ये षष्ठ्या वा' (२।१।१८) से अव्ययीभाव हुआ। पारं समुद्रस्य—यह विग्रह है। वर्तयन्तः=वृत्तिं कुर्वन्तः। वत्सरांश्चक्रुः—यहाँ कृ का अर्थ व्यतीत करना है।

९००. नखान्कुरु—यहाँ कृ का अर्थ कल्पन (बनाना, काटना) है। आज भी हम नाखून बनाना बोलते हैं। सुदिनासु—सुदिन का अर्थ शोभन है। अच्छा दिन (निरभ्र दिन, पुण्यनक्षत्रयुत दिन) शुभ होता है, अतः 'सुदिन' का शुभ अर्थ में प्रयोग होने लगा। 'पुण्यसुदिनाभ्यामह्नः क्लीवतेष्यते' इस वचन के आधार पर सिद्ध हुए 'सुदिनाहम्' में भी यही अर्थ है।

९०१. विचर्चिका—वि पूर्वक चर्च अध्ययने चुरादि से 'रोगाख्यायां ण्वुल् बहुलम्' (३।३।१०८) से ण्वुल् हुआ। कच्छ्वां तु पाम पामा विचर्चिका—अमर। 'रोगाच्चापनयने' (५।४।४९) से चिकित्सा अर्थ में षष्ठ्यन्त विचर्चिका

८९९. उन समुद्र के व्यापारियों ने समुद्रपार वणिग्वृत्ति करते हुए बीस बरस विताये।

९००. नाखून कटवाईये। बहुत बढ़ जाने पर ये भव्य समाज में निन्दा का कारण बनते हैं।

९०१. इस गीली पाँ का प्रतीकार करो, अन्यथा इस रोग के बहुत बढ़ जाने पर तुम्हारा स्वास्थ्य बहुत खराब हो जायगा।

९०२. तुम बहुत थक गये हो। मैं तुम्हारी टाँगें दबा दूँ। इस से तुम्हें आराम होगा।

९०३. जो मनुष्य उड़ते हुए पक्षियों को पकड़ कर अपने विनोद के लिये पिंजरे में डाल देता है वह इसकी पराकाष्ठा की स्वार्थपरायणता है।

९०४. वाक्पटु लोग भी लिखने में संकोच करते हैं। ज्यों-त्यों प्रवृत्त होने पर भी प्रायः अपप्रयोगबहुल, नीरस, कर्णकटु, पुनरुक्ति-युक्त तथा बेजोड़ रचना करते हैं।

शब्द से 'तसि' प्रत्यय होता है। कृ का यहाँ अर्थ चिकित्सा करना है।

९०२. पादौ ते करोमि—यहाँ कृ का अर्थ मर्दन, संवाहन है। इस में भाष्यकार का 'पादौ कुरु। उन्मृदानेति गम्यते' यह वचन प्रमाण है। सुखाकरिष्यति—यहाँ सुख शब्द से 'सुखप्रियादानुलोम्ये' (५।४।६३) से डाच् प्रत्यय होता है। अनुलोमं सत् सुखयिष्यति। 'सुखा' डाजन्त है। यहाँ समास नहीं, कारण कि लोक में तिङन्त के साथ समास नहीं होता।

९०३. पतन्तः=पक्षिणः। जैसे परमः पुमानिव पतिं पतताम्—यहाँ। अमर भी 'पतत्रिपत्रिपतगपतत्पत्ररथाण्डजाः' यहाँ 'पतत्' को पक्षिपर्यायों में पढ़ता है।

९०४. अपशब्दप्रायम्—अपशब्दानां प्रायो बाहुल्यं यत्र तत्। व्यधिकरणबहुव्रीहि। इस विषय में 'अवर्ज्यो हि व्यधिकरणो बहुव्रीहिर्जन्माद्युत्तरपदः' यह वामन का वचन है। प्रायः बहुव्रीहि समानाधिकरण ही होता है। पुनरुक्तवत्—पुनरुक्तमस्यास्ति। मतुप्। पुनरुक्तम्=पुनर्वचनं=पुनरुक्तिः।

९०५. कल्पन्याऽनया यावदिच्छसि पटखण्डं तावत्कल्पय।

९०६. मा स्म कुरुत कर्माणि शान्तिर्वः श्रेयसीति मस्करिणा-मनुशिष्टिः।

९०७. परम्परीणमपि विधानं युक्तिविरहादपेशलमिति नानुष्ठेयं भवति प्रेक्षापूर्वकारिणाम्।

९०८. दरिद्राति मे प्रतिवेशी स मयोद्धरणीय इति शास्त्रं विधत्ते।

९०९. क्रूरेणाऽनेन कर्मणा मन्युराविशन्मां भीतिश्च। परं किं करिष्यामि परवान्वराकः।

९१०. दारुणं तमुदन्तं निशम्य साक्षिणोऽपि मोहिताः किमुत ज्ञातयः।

---

९०५. कल्पय—कृन्त। कृपू सामर्थ्ये भ्वादि का बनना, कटना अर्थ है—क्लृप्तश्मश्रुः (कटी हुई मूँछों वाला)।

९०६. मस्करिणाम्—'मस्करमस्करिणौ वेणुपरिव्राजकयोः' (६।१।१५४) से 'मस्करी' शब्द निपातित किया गया है। वृत्ति के अनुसार 'मस्कर' दण्ड को भी कहते हैं।

९०७. परम्परीणम्—परान् परतरांश्चानुभवति। 'परोवरपरम्पर—' (५।२।१०) से 'ख' प्रत्यय होता है। अपेशलम्—पिश अवयवे (बनाना, घड़ना) तुदादि से घञ् करने पर 'पेश' शब्द निष्पन्न होता है। पेशः = निर्माण, संनिवेश, रचना, आकृति। शोभनः पेशोऽस्यास्तीति पेशलम्। 'सिध्मादिभ्यश्च' (५।२।९७) से मत्वर्थीय लच् प्रत्यय हुआ। पिश् का वेद में प्रयोग देखा जाता है—त्वष्टा रूपाणि पिंशतु (ऋ० १०।१८४।१)। प्रेक्षापूर्वकारिणाम्—प्रेक्षा बुद्धिः पूर्वा यत्र कर्मणि तत् प्रेक्षापूर्वम्। प्रेक्षापूर्वं यथा स्यात् तथा कुर्वन्ति इति प्रेक्षापूर्वकारिणः। उपपदसमासः।

९०९. किं करिष्यामि—यहाँ लृट् का प्रयोग शास्त्र से प्राप्त नहीं, पर

१०५. जितना टुकड़ा कपड़े का चाहते हो उतना कैंची से काट लो।

१०६. कर्म मत करो, शान्ति (उपराम) ही कल्याणकारिणी है यह संन्यासियों का उपदेश है।

१०७. परम्परा प्राप्त विधान भी युक्तिरहित होने से विचारशील लोगों के आचरण के योग्य नहीं।

१०८. मेरा पड़ोसी दरिद्र है। मुझे उस का उद्धार करना चाहिये यह शास्त्राज्ञा है।

१०९. इस क्रूर कर्म के कारण मुझे क्रोध भी आया और भय भी, पर मैं पराधीन बेबस था क्या करता?

११०. उस भयानक समाचार को सुनकर बन्धु-बान्धव-व्यतिरिक्त लोग भी मूर्छित होगये, बन्धुओं का तो क्या कहना।

शिष्टसम्मत है। उदाहरणों के लिये हमारी कृति 'अनुवादकला' की भूमिका में लकारप्रकरण देखिये।

११०. साक्षिणः—'साक्षाद् द्रष्टरि संज्ञायाम्' (५।२।९१) से साक्षात् शब्द से इनि प्रत्यय होता है 'द्रष्टा' अर्थ में। एक ग्रहीता (लेने वाला) दूसरा दाता (देने वाला ऋण आदि का) और तीसरा जो उन के पास खड़ा हुआ देख रहा है वह उपद्रष्टा है। उसे ही 'साक्षी' कहते हैं, ग्रहीता अथवा दाता को नहीं, यद्यपि वे दोनों भी दान और आदान-रूप कर्म को देख रहे हैं। सूत्र में संज्ञा-ग्रहण का यही अभिप्राय है। प्रकृत में साक्षिन् शब्द का अर्थ निरपेक्ष, उदासीन, बन्धुभाव-रहित है। यह लक्ष्यार्थ है। मुख्यार्थ को यथावत् जानने से यह अर्थ सहज में ही बुद्धि में आ जाता है। साक्षी निष्पक्षपात होता है उसे देखी हुई बात को कहना है, इस से किसी की हानि हो अथवा लाभ उसे कुछ चिन्ता नहीं। जहाँ बन्धुभाव होता है वहाँ साक्षी की उदासीनता होती नहीं, अतः 'साक्षिन्' शब्द का प्रयोग बन्धु-व्यतिरिक्त, सम्बन्ध-रहित व्यक्ति के लिये होने लगा।

९११. सखे ! किं न पश्यसि, एवं व्याख्यायमानायां स्मृतौ श्रुतिर्व्याकुप्येत् ।

९१२. कुमारे गन्धवदगन्धमादनमित्यागन्तुकः पाठः ।

९१३. अयं वाचंयमोऽयं च वाग्यामः । को विशेषः ?

९१४. कुलटाकुलाटयोः शब्दयोर्विशेषं चेद्वेत्थ शब्दविदसि नूनम् ।

९१५. कांचिद्वेलामुपास्येतः प्रस्थास्ये । चिरं तस्मिन्कृतक्षणोऽस्मि ।

९१६. विरला एव त्वादृशा नेदिष्ठा धर्मार्थसंहितासु ।

९१७. वाष्पदुर्दिनान्धकारितदर्शनः स पदे पदे स्खलति नतोन्नते भूमिभागे ।

९१८. अयं पामनः, अयं च पामरः । उभयोः सङ्गः परिहार्यः । परिहारे हेतुस्तु भिद्यते ।

---

९११. व्याकुप्येत्—विरुध्येत् । कोप से विरोध लक्षित होता है । कुपित हुआ-हुआ विरोध करता है ।

९१२. आगन्तुकः—आगच्छति इत्यागन्तुः, स एवागन्तुकः । जो परम्परा प्राप्त नहीं, नया है, अर्वाचीन है ।

९१३. वाचंयमः—'वाचि यमो व्रते' (३।२।४०) से खच् प्रत्यय होता है । 'वाचंयमपुरन्दरौ च' (६।३।६९) से मुम् का निपातन किया गया है । 'वाचंयम' उसे कहते हैं जो व्रतविशेष के कारण वाणी को रोकता है, नहीं बोलता, चुप रहता है । 'वाग्याम' उसे कहते हैं जो असामर्थ्य आदि के कारण चुप रहता है । 'वाग्याम' में अण् प्रत्यय है । 'वाचं यच्छति'—यह दोनों की एकसमान व्युत्पत्ति है ।

९१४. कुलटा—अटतीति अटा पचाद्यच् । कुलस्याटा=कुलटा । शकन्ध्वादि होने से पररूप एकादेश हुआ । या कुलान्यटन्ती शीलं भिनत्ति सा

९११. मित्र! तुम नहीं देखते हो कि इस तरह स्मृति का व्याख्यान होने पर श्रुति से विरोध हो जायगा।

९१२. कुमारसंभव में गन्धवाला 'अगन्धमादनम्' यह नपुं० प्रयोग मौलिक नहीं।

९१३. यह 'वाचंयम' है और यह 'वाग्याम' है। इन में क्या भेद है?

९१४. 'कुलटा' तथा कुलाटा'—इन दो शब्दों में यदि भेद जानते हो तो तुम शब्दवित् हो।

९१५. कुछ समय प्रतीक्षा करके यहाँ से चलूंगा। मैं ने उसकी चिर तक प्रतीक्षा की है।

९१६. आप जैसे थोड़े ही धर्मशास्त्र व अर्थशास्त्र में निपुण हैं।

९१७. बहती हुई अश्रुधारा से अन्धकारमय दृष्टि वाला वह पुरुष पग पग पर ऊँची-नीची भूमि पर ठोकरें खाता है।

९१८. इसे पामा (पाँ) रोग है, यह नीच है। दोनों का संग वर्जनीय है, पर वर्जन में हेतु भिन्न भिन्न है।

कुलटा। इसी अर्थ में पररूप होता है। अन्यत्र जो भिक्षा आदि हेतु से घरों में पर्यटन करती है उसे 'कुलाटा' कहते हैं।

९१६. नेदिष्ठाः=सर्वेषामतिशयेन अन्तिकाः। बहुत समीप से यहाँ अन्तः प्रवेश विवक्षित है। इसी अर्थ में 'अभ्यन्तर' शब्द का प्रयोग होता है। जो जिस के अन्तः प्रविष्ट है वह उसे खूब जानता है। अतः नेदिष्ठ=चतुर, प्रवीण।

९१८. पामनः—पामाऽस्यास्तीति। जिसे पाँ का रोग है। यहाँ 'लोमादिपामादि—' (५।२।१००) से मत्वर्थीय 'न' प्रत्यय होता है। 'न' परे होने पर 'पामन्' की 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' (१।४।१७) से पदसंज्ञा होने से 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (८।२।७) से 'न' का लोप हो जाता है। पामरः—विग्रह यहाँ भी 'पामाऽस्यास्ति' यही है। मत्वर्थीय 'र' प्रत्यय हुआ है। पर अर्थ है 'नीच' 'इतर'। विवर्णः पामरो नीचः प्राकृतश्च पृथग्जनः—अमर।

९१९. यदीच्छसि प्रियोहं लोकस्य स्यामिति तदा शब्दाञ्छीलय, अपशब्दांश्च वर्जय। प्रियङ्करणो हि शब्दप्रयोगः।

९२०. शब्दापशब्दविवेको हि विशारदानामपि न सहेलं साध्यः किमुत शारदानाम्।

९२१. स्वल्पाऽपि स्वप्रत्यया वृत्तिः परमं सुखम्।

९२२. यः स्वागतैर्धनैर्यजते तस्य वीर्यवत् कर्म भवति, इतरस्य व्यतिक्रमदूषितमिति दुर्बलम्।

९२३. नैतदस्ति—एकः कुर्यादपरो भुञ्जीतेति। कर्त्रभिप्रायं फलमिति नियमात्।

९२४. त्वं शरीरेण संनिहितोऽपि हृदयेनाऽसंनिहित इति गुरूपदेशं नाग्रहीः।

९२५. इदं भेषजमत्र ज्वरे कार्मुकं भविष्यतीति सम्प्रत्येत्य-गदंकारः।

---

९१९. प्रियङ्करणः—अप्रियः प्रियः क्रियतेऽनेनेति। 'आढ्यसुभग-स्थूल—' (३।२।५६) से 'ख्युन्' प्रत्यय होता है।

९२०. विशारदानाम्—विगतं शारदत्वम् अप्रतिभत्वं येषां तेषाम्। 'शारद' के दो अर्थ हैं—प्रत्यग्र (ताजा, नया) और अप्रतिभ (प्रतिभा-रहित, प्रौढिशून्य)। विशारद शब्द में 'शारद' भावप्रधान निर्देश है। 'शारद'—शरद् से ऋतु शब्द होने से 'भव' अर्थ में अण् होता है। यहाँ 'शारदा' (भगवती सरस्वती) से कोई सम्बन्ध नहीं।

९२१. स्वप्रत्यया—स्वस्मिन् आत्मनि प्रत्ययाऽधीना। 'प्रत्यय' इस अर्थ में कर्ता अर्थ में अच्प्रत्ययान्त है। प्रत्येति इति प्रत्ययः। स्त्रीत्व-विवक्षा में टाप् होगा जैसे 'पचा (पकाने वाली) ब्राह्मणी'—यहाँ होता है। प्रत्ययोऽधीनशपथज्ञानविश्वासहेतुषु—अमर।

९१९. यदि तू चाहता है कि मैं लोगों का प्यारा बन जाऊँ तो शब्दों का अभ्यास कर, और अपशब्दों का त्याग। शब्दों का प्रयोग ही प्यारा बनाता है।

९२०. शब्द और अपशब्द का विवेक प्रौढ़ लोगों के लिये भी आसान नहीं, अप्रौढ़ों का तो क्या कहना।

९२१. स्वाधीन जीविका चाहे थोड़ी भी हो, उत्तम सुख है।

९२२. जो अच्छे ढंग से उपार्जित धन से यज्ञ करता है उस का कर्म बलवान् (प्रभावशाली) होता है, दूसरे का पाप से दूषित होने से निर्बल।

९२३. ऐसा नहीं होता—एक करे और दूसरा भोगे। फल कर्ता को मिलता है, ऐसा नियम है।

९२४. शरीर से उपस्थित होने पर भी तुम हृदय से अनुपस्थित थे, अतः तुम ने गुरु के उपदेश को ग्रहण नहीं किया।

९२५. यह औषध इस ज्वर में प्रभावुक होगा, ऐसा वैद्य का विश्वास है।

---

९२३. कर्त्रभिप्रायम्—कर्तारमभिप्रैतीति। 'कर्तृ' (कर्म) उपपद होने पर अभि-प्रपूर्वक इण् से 'कर्मण्यण्' (३।२।१) से अण्।

९२४. शरीरेण, हृदयेन—'प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्' से तृतीया हुई। अग्रहीः—ग्रह् से लुङ् म० पु० एक०।

९२५. कार्मुकम्—कर्मणे प्रभवतीति, साधक, प्रभावुक। यहाँ 'कर्मण उकञ्' (५।१।१०३) से उकञ् प्रत्यय होता है। इस सूत्र की वृत्ति में वामन का वचन है—'धनुषोऽन्यत्र न भवति, अनभिधानात्'। पर यह रभसोक्ति है। धनुष् से अन्यत्र भी शिष्ट लोग 'कार्मुक' का प्रयोग करते हैं—न तु गुणप्रभावादेव कार्मुकाणि (द्रव्याणि) भवन्ति—ऐसा चरकसंहिता के सूत्र-स्थान में प्रयोग मिलता है। सम्प्रत्येति=विश्वसिति। अगदंकारः—'कारे सत्यागदस्य' (६।३।७०) स यहाँ 'अगद' को 'मुम्' आगम होता है।

९२६. "यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्" इति मनुवाक्ये एकशेषः कुतो न? प्रवृत्तिनिमित्तभेदात्। प्राक्स्रोतसो नद्यः प्रत्यक्स्रोतसो नदा नर्मदां विनेत्याहुः।

९२७. यत्सत्यमियं रूपेणाप्सरसोऽप्यति।

९२८. अयं मे बालमित्रम्। अहमस्य वृत्तशीले सुष्ठु वेद।

९२९. बालवृद्धातिथीन् पूर्वमाशय, ततः स्वयमशान। पर्यश्नन् हि किल्विषी भवति।

९३०. प्रातरेव स कदर्यो मम चाक्षुषो जातः, अनिष्टं च महदुपनतम्।

९३१. मातरि पितरि च शुश्रूषुरनहङ्कृतो वाग्यतोऽयं कुमारः कस्य न प्रियः।

९३२. स्वाध्यायमधीयानस्य याऽस्य मुख्या विप्रुषोऽङ्गेषु निपतन्ति न ता उच्छिष्टं कुर्वन्ति।

९३३. दश पाद्या अङ्गुलयो भवन्ति दश हस्त्याः।

अगद (पुं०) औषध का नाम है।

९२७. अप्सरसोऽति—'अतिरतिक्रमणे च' (१।४।९५) से 'अति' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा है। कर्मप्रवचनीय के योग में द्वितीया होती है। 'अप्सरसः' द्वितीयान्त है।

९२८. बालमित्रम्—बालस्य सतो मित्रम् (बाल होते हुए का मित्र)।

९२९. पर्यश्नन्=परिवर्ज्य अश्नन् (बाल वृद्ध आदि का अतिक्रम करके खाता हुआ)।

९३०. कदर्यः—कुत्सितोऽर्यः स्वामी। जो धनी होता हुआ भी अपने लिये खर्च नहीं करता, वह क्या धन का स्वामी है। चाक्षुषः—चक्षुर्भ्यां

९२६. "यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्" इस मनुवाक्य में 'नदीनदाः' यहाँ एकशेष 'नदाः' क्यों नहीं हुआ ? (उत्तर) अर्थ-भेद से। पूर्व को वहने वाली नदियाँ कहलाती हैं नर्मदा को छोड़कर और पश्चिम को वहने वाले 'नद' कहलावे हैं।

९२७. सच पूछो वह रूप में अप्सराओं से भी बढ़ कर है।

९२८. यह मेरा बचपन से मित्र है। मैं इस के वृत्त और शील को खूब जानता हूँ।

९२९. बच्चों, वृद्धों और अतिथियों को पहिले खिलाओ, पीछे आप खाओ। उनको छोड़ कर खाने वाला पापी होता है।

९३०. सवेरे ही वह कृपण मेरी आँखों के सामने आगया और बहुत बड़ा अनिष्ट आ पड़ा!

९३१. माता पिता की सेवा करने वाला, अहंकार रहित वाक्संयम वाला यह कुमार किसे प्यारा नहीं लगता?

९३२. वेदपाठ करते हुए वेदपाठी के मुख से निकली हुई बूँदें अंगों पर पड़ी हुई उच्छिष्ट नहीं करतीं।

९३३. दस पाँओं की उंगुलियाँ हैं और दस हाथों की।

गृह्यत इति। 'शेषे' (४।२।९२) से अण् प्रत्यय होता है।

९३१. अनहङ्कृतः—न अहंकृतः। अहमित्यहम्भावेऽव्ययम्। वाग्यतः—यतवाक्। 'अहंकृतः' और 'वाग्यतः' में आहिताग्नि आदि होने से निष्ठा का परनिपात होता है।

९३२. मुख्याः—मुखे भवाः। 'शरीरावयवाच्च' (४।३।५५) से यत् प्रत्यय होता है। विप्रुषः—विन्दवः। पृषन्ति विन्दुपृषताः पुमांसो विप्रुषः स्त्रियाम्—अमर।

९३३. पाद्याः, हस्त्याः—'शरीरावयवाच्च' (४।३।५५) से 'तत्र भवः' अर्थ में यत्।

९३४. गेहेनर्दिनोऽस्य विदितं नाम नः पौरुषम् । अपि चेदात्मानमत्यर्थं स्तुयान्नास्य संगरे स्थेमा ।

९३५. यावदर्थं पदानि प्रयोज्यानि, अन्यथाऽधिकपदत्वदोषापातः ।

९३६. उदपप्तत्सूर्य इति जहाहि वत्स शय्याम् । मा चिरम् ।

९३७. इदं मम भाति देवदत्तो ह्यलं वेदार्थग्रहणाय, देवदत्ता त्वलन्तरेति ।

९३८. अयं मे त्वयि प्रश्नो व्याकरणं प्रति, न्याये तु नास्ति मे पिपृच्छिषा ।

९३९. यतिर्ग्रामं प्रति क्वचिज्जीर्णे देवतायतने निशां नयेत् ।

९४०. अयं हि सत्यसङ्गर इति प्रथा । न ह्येष आश्रुतेऽर्थे विसंवदति ।

९४१. किं कार्यं ते महाभाग ? भवन्तमभिवादक एवागतोऽस्मि । कार्यान्तरं तु मे नास्ति ।

---

९३४. गेहेनर्दिनः—'पात्रेसमितादयश्च' (२।१।४८) से तत्पुरुष समास निपातन किया गया है । यहाँ क्षेप=निन्दा गम्यमान है। गेहेनर्दी=घर में गर्जने वाला, अर्थात् युद्ध-भीरु । स्थेमा—स्थिरता । 'स्थिर' से 'पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा' (५।१।१२२) से भाव अर्थ में इमनिच् प्रत्यय होता है । 'प्रियस्थिर—' (६।४।१५७) से इमनिच परे होने पर स्थिर' को 'स्थ' हो जाता है । स्थेमा (स्थेमन् से) पुँ० है । सभी इमनिजन्त पुँल्लिङ्ग होते हैं ।

९३५. यावदर्थम्—यावन्तोऽर्थाः । 'यावदवधारणे' (२।१।८) से अव्ययीभाव होता है ।

९३६. उदपप्तत्—उद् पूर्वक पत् का लुङ् । 'उदपप्तदसौ सूर्यः पुरु विश्वानि जूर्वन्' (ऋ० १।१९१।९) ।

९३७. अलन्तरा—अतिशयेन अलम् । तरप् , टाप् ।

९३४. यह घर में शेर है, इसका पौरुष हमसे छिपा नहीं। चाहे कितनी ही अपनी स्तुति करे, युद्ध में यह ठहर नहीं सकता।
९३५. जितने अर्थ हों उतने ही पदों को प्रयुक्त करे, अन्यथा 'अधिकपदत्व' नाम का दोष होगा।
९३६. हे पुत्र ! सूर्य निकल चुका है। शय्या त्यागो। देर मत करो।
९३७. मुझे यह प्रतीत होता है कि देवदत्त वेदार्थ ग्रहण में समर्थ है और देवदत्ता (लड़की) समर्थतर है।
९३८. यह मेरा आप से व्याकरण विषय में प्रश्न है, न्याय में मुझे पूछने की इच्छा नहीं।
९३९. संन्यासी ग्राम के समीप किसी पुराने टूटेफूटे मन्दिर में एक रात काटे।
९४०. यह सत्यप्रतिज्ञ है यह प्रसिद्ध है। यह अपनी प्रतिज्ञा को मिथ्या नहीं करता।
९४१. हे पुण्यात्मन् ! आपको मुझ से क्या काम है ? मैं आपको नमस्कार करने आया हूँ, मुझे और कुछ कार्य नहीं।

---

९३८. त्वयि प्रश्नः—यहाँ पञ्चमी का कोई स्थान नहीं। सामीपिक अधिकरण में सप्तमी हुई है। तेरे पास मेरा प्रश्न है—ऐसा अक्षरार्थ है। व्याकरणं प्रति—व्याकरणे विषये।

९३९. ग्रामं प्रति—ग्रामस्य समीपे। यहाँ 'प्रति' 'सामीप्य' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

९४०. प्रथा—प्रसिद्धिः। भिदादि होने से अङ्, टाप्। आश्रुते—प्रतिज्ञाते। प्रतिश्रु और आश्रु का प्रतिज्ञा करना, देना स्वीकार करना अर्थ है। यह अर्थ 'आश्रव' (वचने स्थित आश्रवः) में भी स्पष्ट है।

९४१. भवन्तम् अभिवादकः—यहाँ अभिपूर्व वद सन्देशवचने चुरादि से 'तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्' (३।३।१०) से ण्वुल्। 'अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः (२।३।७०) से षष्ठी का निषेध होकर अनुक्त कर्म 'भवत्' से द्वितीया हुई।

९४२. मा मामन्यथा समर्थयस्व । नाहमस्मि पुरोभागी । गुणदोषपरिच्छेदमेवाभिप्रैमि ।

९४३. नास्मिन्नश्वकेऽधिकमाधेयम् । लम्बतेऽस्य ग्रीवा, उदञ्चति जिह्वा, विनमन्ति च जानूनि ।

९४४. एकनीलास्तडित्वन्तो वलाहका वर्षासु किमपि कामनीयकं कुर्वन्ति गगनाभोगस्य ।

९४५. साधो ! दत्ता मया तेऽध्ययावन्निर्जिता वृद्धिः । इदानीं करणं परिवर्तय ।

९४६. सखे ! अद्य चिरेणाश्वः, कस्तेऽन्तरायोऽभूत् ?

९४७. इयं बहुगुडा द्राक्षा । न हि सर्वा द्राक्षैवंगुणा भवति ।

९४८. ये चिरं निर्भरं कमलया परिष्वज्यन्ते ते प्रायेणोत्सिच्यन्ते ।

९४९. अनुप्रासाद्यपहृतधियां निबन्द्धॄणां न केवलं रसापकर्षोऽर्थापकर्षोऽपि । बह्वी चानौचिती प्रयोगेषु ।

९५०. पञ्चहायनतां स्पृशत्यस्मिन्बाले पिताऽस्य देवभूयं गतः ।

---

९४२. समर्थयस्व = चिन्तयस्व । पुरोभागी—दोषैकदृक् पुरोभागी—अमर ।

९४४. एकनीलाः—एको नील एव वर्णो येषाम् । अथवा कर्मधारय समास है—एके (केवलाः) च ते नीलाश्च । वलाहकाः—वारीणां वाहकाः । पृषोदरादि । कामनीयकम्—कमनीयस्य भावः । 'योपधाद्—' (५।१।१३२) से वुञ् । गगनाभोगस्य—आभोगो विस्तारः ।

९४६. आश्वः—आङ् पूर्वक श्वि गतिवृद्ध्योः भ्वादि का लुङ् म० पु० एकवचन ।

९४२. आप मेरे अभिप्राय को उल्टा न समझिये, मैं केवल दोषदर्शी नहीं। हाँ गुणदोष परीक्षा चाहता हूँ।

९४३. इस कमजोर घोड़े पर अधिक भार न लादिये। इसकी गर्दन लुढ़क रही है, जिह्वा बाहिर निकल रही है और घुटने झुक रहे हैं।

९४४. काले-काले विद्युद्रेखायुक्त बादल बरसात में विस्तीर्ण आकाश की विचित्र शोभा करते हैं।

९४५. साहू जी! मैंने आज तक का सूद आपको दे दिया। अब 'तमसक' बदल दीजिये।

९४६. मित्र! आज आप देर से आये। क्या विघ्न आ पड़ा?

९४७. इन अंगूरों में गुड़ की सी मिठास है। सभी अंगूर ऐसे नहीं होते।

९४८. जो चिर तक लक्ष्मी के परिष्वंग (=आलिंगन) को प्राप्त करते हैं वे प्रायः गर्वित हो जाते हैं।

९४९. अनुप्रास आदि से खिचे हुए मन वाले निबन्धलेखकों में न केवल रस की कमी हो जाती है, अर्थ की भी। प्रयोगों में बहुत अनौचित्य हो जाता है।

९५०. जब यह बालक पाँच वर्ष का हो रहा था, तो इसका पिता परलोक सिधार गया।

---

९४७. बहुगुडा—'विभाषा सुपो बहुच् पुरस्तात्तु' (५।३।६८) से ईषद-समाप्त (कुछ न्यून) अर्थ में सुबन्त से पूर्व बहुच् प्रत्यय होता है। ईषद-समाप्तो गुडः। बहुच्प्रत्यय समेत प्रकृति विशेष्य के लिङ्ग को ले लेती है।

९४८. उत्सिच्यन्ते—कर्म कर्ता में प्रयोग है। उत्सेकं प्राप्नुवन्ति। उद् पूर्वक सिच् का अर्थ उबलना, ताप के कारण दूध आदि का पात्र से बाहिर गिर जाना। गर्वित पुरुष भी आपे से बाहिर हो जाता है।

९५०. देवभूयम्—'भुवो भावे' (३।१।१०७) से यत् प्रत्यय होता है। देवभूयम्=देवत्वम्।

९५१. इदं पुराणं गेहम्, इदं च प्रपुराणम्। संशीर्णं हि दृश्यते।

९५२. वातप्रधाना अत्रत्या आपः। शृतशीताश्चेत्पीयन्तां न दोषाय भविष्यन्ति।

९५३. न जाने मे कुक्षेराटोपः किंकृत इति।

९५४. अन्येद्युष्कं ज्वरं कुर्यान्न साद्यस्कमिति वैद्याः।

९५५. न हि सर्वाणि फलानि निष्कोष्टव्यानि भवन्ति, अनिष्कुषितान्यपि कानिचिदास्वाद्यानीत्याहुः।

९५६. अपां पूर्णः कस्यायं पर्याहारः। किं शक्यमितः कामपि मात्रामादाय तृद् छमयितुम्?

९५७. मृज्जलादीनि प्रायत्यसाधनानि स्मृतानि, ऋषिजुष्टाम्बूनि च तीर्थानि।

९५८. वर्धतां ते व्यवसायो हीयतां वा, सतां क्रमं तु माऽतिक्रमीः।

९५९. उपकारं हि प्रतिचिकीर्षति सुजनः। प्रतिकृते च तस्मिञ्जीवितं स्वं सकामं मन्यते।

९६०. ह्योऽहं ते सविस्तरमलिखम्। तत्र क्रोडपत्रे योऽर्थ उपन्यस्तस्तत्र सविशेषमवधानं दीयमानं प्रार्थये।

---

९५२. शृतशीताः—पूर्वं शृता पश्चात् (इदानीं) शीताः।

९५४. अन्येद्युष्कम्—अन्येद्युर्भवम्। यहाँ कालाट् ठञ् होकर 'इसुसुक्तान्तात्कः' (७।३।५१) से 'ठ' को 'क' आदेश होता है। सद्य एव सद्यस्कम्, स्वार्थ में कन्। तदेव साद्यस्कम्। स्वार्थ में अण्।

९५५. निष्कोष्टव्यानि—'निरः कुषः' (७।२।४६) से विकल्प से इट् होता है। कुष् सेट् है। अनिष्कुषितानि—'इण्निष्ठायाम्' (७।२।४७) से निष्ठा को नित्य इट् का आगम होता है। 'यस्य विभाषा' (७।२।१५) से

९५१. यह घर पुराना है और यह बहुत पुराना है। कारण कि बहुत टूटाफूटा है।

९५२. यहाँ का जल हवा करता है, यदि उबालकर ठंडा करके पीया जाय तो विकार नहीं करेगा।

९५३. मालूम नहीं मेरे पेट में गुड़गुड़ क्यों हो रही है।

९५४. एक दिन पुराने ज्वर की चिकित्सा करे न कि उसी दिन के।

९५५. सभी फलों का छिलका उतारना आवश्यक नहीं, कुछ ऐसे भी हैं जिन्हें बिना छीले ही खाना चाहिये ऐसा कहते हैं।

९५६. यह पानी का भरा मटका किस का है? क्या इसमें से कुछ जल लेकर प्यास बुझा सकता हूँ?

९५७. मिट्टी तथा जल शोधन के साधन माने गये हैं और ऋषियों से सेवित जल वाले तीर्थ भी।

९५८. तुम्हारा धन्धा बढ़े अथवा बिगड़े। सत्पुरुषों के मार्ग को मत छोड़ो।

९५९. सज्जन उपकार का बदला देना चाहता है। प्रत्युपकार करने पर वह अपने जीवन को सफल समझता है।

९६०. कल मैं ने आप को विस्तार से लिखा था। उस में पत्र-प्रान्त पर पीछे लिखी हुई बात पर मैं चाहता हूँ कि आप विशेष ध्यान दें।

निषेध प्राप्त था।

९५६. अपां पूर्णः—शिष्टों के व्यवहार में पूर्ण शब्द के प्रयोग में जिस पदार्थ से पात्र आदि भरा हुआ हो उस में प्रायः षष्ठी देखी जाती है। उदाहरणों के लिये 'शब्दापशब्दविवेकः' की भूमिका पृ २८ देखिये।

९५७. प्रायत्यसाधनानि—प्रयतः पूतः, तस्य भावः प्रायत्यम्। तस्य साधनानि।

९५८. माऽतिक्रमीः—क्रम्-लुङ्।

९६१. अलोलुपानामगृह्यमाणकारणानां यतीनां राजेति कियती मात्रा ।

९६२. आशुतरग्रन्थोऽयं माणवकः । प्रदीप्ते अस्य प्रज्ञामेधे ।

९६३. यो हि विषमपतितोऽपि पथा याति नाऽपथा, स धीरः ।

९६४. वल्लकी वाद्यानामुत्तमा मता । सा हि समं संवननं सुराऽसुराणाम् ।

९६५. मा ते वृधन्निति करुरुहान्सप्ताहस्य द्विरवश्यं संहारयेः ।

९६६. कौसल्यामात, उत्तिष्ठ । पूर्वा सन्ध्या प्रवर्तते । कर्तव्यं ते दैवमाह्निकम् ।

९६७. ऋषयो हि दूरं दूरतरं वा सर्वमप्यर्थजातमपाणिपिहितमिव पश्यन्ति ।

९६८. किं नेक्षसे इदं ते कर्मासक्तदुक्तान्युदात्तानि ते वचांस्यतीयते ।

९६९. परिवर्ती लोकः । येऽत्र पूर्वत्र समृद्धिमाङ्स्ते सम्प्रति व्यृद्धाः ।

---

९६३. विषमपतितः—विषमं पतितः । 'द्वितीया श्रितातीतपतित—' (२।१।२४) से द्वितीया तत्पुरुष होता है । अपथा—यहाँ नञ् कुत्सित अर्थ में है । 'नञस्तत्पुरुषात्' (५।४।७१) से समासान्त का अत्यन्त निषेध प्राप्त था, पर 'पथो विभाषा' (५।४।७२) से विकल्प होता है । अतः अपन्थाः, अपथम्—दो रूप होते हैं । समासान्त न होने पर 'अपथा' तृतीयान्त है ।

९६४. संवननम्—वशक्रिया संवननम् (अमर)। यह अजहल्लिङ्गशब्द है ।

९६५. मा वृधन्—वृध्–लुङ् । 'द्युद्भ्यो लुङि' (१।३।९१) से लुङ् में विकल्प से परस्मैपद होता है । 'पुषादिद्युता—' (३।१।५५) से च्लि को अङ् ।

९६१. निर्लोभी स्वार्थहीन यतियों के लिये राजा क्या चीज है ?

९६२. यह लड़का बहुत जल्दी ग्रन्थार्थ ग्रहण कर रहा है। इसकी बुद्धि तथा स्मृति दोनों प्रदीप्त हैं।

९६३. जो कष्टापन्न होकर भी मार्ग पर चलता है कुमार्ग पर नहीं, वह धीर है।

९६४. वीणा वाद्यों में उत्तम है। सुरों और असुरों के वशीकरण का एक समान साधन है।

९६५. तेरे नाखून बहुत न बढ़ जायें अतः सप्ताह में दो बार इन्हें अवश्य कटवाइये।

९६६. हे कौसल्यानन्दन उठो, प्रभात होगई है। तुम्हे दिन का कृत्य देवपूजन करना चाहिये।

९६७. ऋषि लोग दूर से दूर सभी पदार्थों को मानो हाथ की हथेली पर पड़े हुए देखते हैं।

९६८ क्या तुम नहीं देखते कि यह तुम्हारा कर्म अनेक बार कहे हुए तुम्हारे ऊँचे कथनों के विपरीत जाता है ?

९६९. यह संसार परिवर्तनशील है जो यहाँ पहले समृद्धि को प्राप्त थे वे अब ऋद्धिहीन हैं।

---

९६६. कौसल्यामात—यहाँ 'मातृणां मातच् पुत्रार्थमर्हते' इस वार्तिक से 'मातृ' को मात (च्) आदेश होता है संबुद्धि में। जब कि पुत्र योग्यता के कारण माता के नाम से बुलाने योग्य है। कौसल्या माताऽस्य, तत्सम्बुद्धौ। 'नद्यृतश्च' (५।४।१५३) से कप् समासान्त नहीं होगा। कौसल्यामातृक नहीं कह सकते।

९६८. अतीयते—अति पूर्वक ईङ् गतौ दिवादि धातु से कर्ता में लट् है।

९६९. परिवर्ती—परिवर्तितुं शीलमस्य। आर्छन्—ऋच्छ् तुदादि से लङ्। आर्च्छन् ऐसे भी ठीक है। 'झरो झरि सवर्णे' (८।४।६५) से विकल्प से 'च्' का लोप हो जाता है।

९७०. कच्चिच्छीलयसि सदुक्तीर्विदां वराणां वदावदानाम् ।

९७१. यदीदानीं विपथगामिनं सुतं न संग्रहीष्यसि, ध्रुव-मनुशयिष्यसे ।
९७२. हन्त ते वर्तयिष्यामि इतिहासं पुरातनम् ।
९७३. भ्रातुर्निधनं निशम्य सोऽवर्तयदश्रूणि निरन्तराणि ।
९७४. पुत्रक ! अगदं तेऽस्तु । इष्टेन युज्यस्व । सर्वमायुरिहि ।

९७५. आश्चर्यं मृगपोतः केसरिकिशोरकं प्रत्यर्थयिष्यते ।
९७६. उत्थितो गुरुशुश्रूषायां स्याः, प्रयतो नियतश्च कृत्येष्वा-ह्निकेषु ।
९७७. असकृद्विपन्नकार्यस्य तेऽनुपरामं प्रशंसामि मनसोऽ-पराजयं च ।
९७८. असौ मे पाणिगृहीत इति कर्तव्यं तस्य साह्यं विषम-पतितस्य ।

---

९७०. विदाम्—वेत्तीति वित्, क्विप् । वदावदानाम्—'चरिचलिपति-वदीनां वा द्वित्वमच्याक् चाभ्यासस्य' इस वार्तिक से पचाद्यच् परे होने पर विकल्प से द्वित्व और अभ्यास को आक् आगम होता है वदावदः—पक्ष में 'वदः' रूप भी होगा । अत एव अमर 'वदो वदावदो वक्ता' वागीश अर्थ में पढ़ता है ।

९७१. संग्रहीष्यसि—नियमयिष्यसि, नियंस्यसि । सम् पूर्वक ग्रह् का यह अर्थ संग्रहीता (=सारथि) शब्द में स्पष्ट है । अनुशयिष्यसे—अनु शी पश्चात्ताप अर्थ में प्रयुक्त होता है ।

९७२. वर्तयिष्यामि—वृत्-णिच्-लृट् । इस का अर्थ कहना, सुनाना

९७०. क्या मैं आशा करूँ कि आप वाग्मी विद्वानों की सुन्दर उक्तियों का अभ्यास करते हैं ।

९७१. यदि तू विमार्गप्रस्थित अपने सुत को वश में नहीं करेगा, तो निश्चित ही पछतायेगा ।

९७२. मैं अब आपको पुराना इतिहास बताऊँगा ।

९७३. भ्राता की मृत्यु को सुनकर उसने लगातार आँसू बहाये ।

९७४. प्रिय पुत्र ! तू स्वस्तिमान् हो । अपने अभीष्ट को प्राप्त कर । सम्पूर्ण आयु को प्राप्त कर ।

९७५. आश्चर्य है हिरण का बच्चा सिंहशिशु से टक्कर ले ।

९७६ गुरुसेवा में उद्यमशील रहो । दैनिक कार्यों में पवित्र और नियमवान् रहो ।

९७७. तुम्हारा कार्य कई बार असफल रहा तो भी तुम्हारे लगातार यत्न और दृढ़ता की प्रशंसा करता हूँ ।

९७८. मैंने उसका हाथ पकड़ा था इसलिये संकट में मुझे उसकी सहायता करनी चाहिये ।

कैसे हो गया ? ऐसा प्रतीत होता है कि मूल अर्थ वर्तयिष्यामि='वर्तमानं करिष्यामि' है । सुनाने वाला इतिहास (अतीत घटनाओं) को श्रोताओं के मानो सामने ला कर रख देता है । अतः वर्तयिष्यामि=कथयिष्यामि ।

९७३. अवर्तयत्—इस अर्थ में प्रयोग के लिये देखो रा० ६।३३।३०॥

९७४. अगदम्—गदस्याभावः । अव्ययीभाव । सर्वम्=सम्पूर्णम् ।

९७५ प्रत्यर्थयिष्यते—प्रति पूर्वक अर्थ् चुरादि का अर्थ विरोध करना होता है ।

९७८. पाणिगृहीतः—गृहीतः पाणिरस्य । मित्रं कृतः । इस के प्रामाण्य के लिये रा० ४।५५।५॥ देखो ।

९७९. यो नामाऽन्यायेन परकन्यां परभार्यां वा स्वीकरोति स पातकी नाऽमुत्र सुखमश्नुते ।

९८०. स्वस्तेऽयं व्यतिक्रमः । स्वयं कुर्वन्नन्यमपदिशसि । नैष न्यायः ।

९८१. अर्थकदर्थना नाम व्यापद् व्यापदन्तराणि विशेषयति ।

९८२. एकमेव रसं सततं जुषमाण उद्विजते । मध्वपि नानवदंशं स्वदते ।

९८३. भ्रमतिभ्राम्यत्योः प्रयोगविषयं चेद्वेत्थ नूनं पारायणिकोऽसि ।

९८४. विस्तृतविस्तीर्णयोः कौ धातू इति चेत्सहसे वक्तुं नूनं विचक्षणोऽसि ।

९८५. दीपप्रदीपयोः को विशेषः, लम्बप्रलम्बयोश्च कः ? कोऽपि नेत्याह । अनर्थकः प्रशब्दः ।

९८६. यदेकमप्यर्थमनेकयति, अनेकं चैकयति सोऽस्य प्रतिभाविलासः ।

---

९७९. स्वीकरोति—स्वकीयां करोति, विवहति ।

९८३. भ्रमति—भ्रमु चलने भ्वा० । यहाँ चलन से मण्डलाकार से चलन विवक्षित है, भ्रमतीव च मे मनः (गीता) । भ्रमन्त्यम्भांसि । अतः भ्रान्त होना, ठीक-ठीक न जानना, अथवा अयथार्थ रूप से जानना भी धातु का अर्थ है । अत एव शुक्तिं पश्यन्रजतमिति भ्रमति, ऐसा प्रयोग होता है । भ्राम्यति—भ्रमु अनवस्थाने दिवादि । इस का अर्थ घूमना, एक जगह स्थिर न होना । भ्राम्यन्देशमनातपं विधिवशात्तालस्य मूलं गतः (भर्तृहरि) । पारायणिकः—पारायणं वर्तयति इति । 'पारायणतुरायणचान्द्रायणं वर्तयति' (५।१।७२) से ठञ् प्रत्यय होता है ।

९७९. जो अन्याय से दूसरे की कन्या अथवा भार्या को अपनी स्त्री बना लेता है वह पापी परलोक में सुख नहीं पाता।

९८०. यह तेरा अपना अपराध है। आप करते हो और दूसरे का नाम लेते हो। यह उचित नहीं।

९८१. अर्थकृच्छ्र नाम की आपत्ति दूसरी आपत्तियों से बड़ी होती है।

९८२. एक ही रस को सेवन करता हुआ उकता जाता है मधुर भी विना चटनी के स्वाद नहीं लगता।

९८३. 'भ्रमति' और 'भ्राम्यति' इनके प्रयोग विषय को यदि तू जानता है तो तू ने धातुपारायण किया है।

९८४. यदि तू 'विस्तृत' और 'विस्तीर्ण' शब्दों में धातु बता सकता है तो सचमुच निपुण है।

९८५. दीप और प्रदीप में क्या भेद है. (ऐसे ही) लम्ब (लम्बा) और प्रलम्ब में क्या विशेष है? कुछ भी नहीं। यहाँ 'प्र' शब्द अनर्थक है।

९८६. जो यह अनेक पदार्थों को एक बना देता है और अनेकों को एक, सो इसकी प्रतिभा का खेल है।

---

९८४. विस्तृत—वि पूर्व स्तृञ् आच्छादने स्वादि से निष्ठा प्रत्यय क्त हुआ है। यह अनिट् है। विस्तीर्ण—यह वि पूर्व स्तॄञ् आच्छादने क्र्यादि से 'क्त' परे रूप बनता है। स्तॄञ् सेट् है, तो भी 'श्र्युकः किति' (७।२।११) से क्त परे होने पर इट् का निषेध हो जाता है। 'ॠत इद् धातोः' (७।१।१००) से इकार अन्तादेश जो रपर होता है। 'हलि च' (८।२।७७) से स्तिर् को दीर्घ और 'रदाभ्यां निष्ठातः—' (८।२।४२) से क्त के (त्) को न् होता है।

९८५. प्रदीपः—अमर भी 'दीपः प्रदीपः' पर्याय पाठ करता है। यह ऐसे ही है जैसे मेरुः, सुमेरुः। लोचनम्, विलोचनम्। जयः, विजयः।

९८७. यो हि सद्भिः संघटते घटते स परमाय पुमर्थाय ।

९८८. इह ग्रामे वयमन्वादिष्टाः । यज्ञदत्तप्रभृतय एवात्रोच्चैः-पदास्पदं भूताः ।

९८९. नक्तकेन पुनीहि पयः । अपूतं पयो न पेयं विशेषेण गव्यमित्याहुः ।

९९०. क्षुल्लकजनसमागमः कस्य श्रेयसे स्यात् । क्षुल्लको हि दन्दशूकवद् दन्दश्यते ।

९९१. जयेन स्म विजयन्तेऽरातीन् संगरेषु मतङ्गजेन वा ।

९९२. विसरविसारयोः को विशेष इति चेज्जानीषे नूनं बहुज्ञोऽसि ।

९९३. इयं मलिना, इयं च मलिनी । उभयोरारात्स्थेयम् ।

९९४. अच्छिन्नदशं वासः परिदधीत माङ्गलिको मनुष्यः ।

९९५. पटच्चरपाटच्चरशब्दयोर्व्युत्पत्तिं चेद्वेत्थ शाब्दिकोऽसि ।

९८७—पुमर्थाय—पुंसोऽर्थः । अर्थ=प्रयोजन पुमर्थ=पुरुषार्थ ।

९८८. अन्वादिष्टाः— पश्चाद् आदिष्टा निर्दिष्टाः कीर्तिताः । जिस का प्रथमतया निर्देश नहीं होता किन्तु किसी के पीछे होता है वह गौण ही तो होता है । इस (अन्वादिष्ट) के स्थान में अन्वाचित, कथितानुकथित, अनुपुरुष शब्दों का भी प्रयोग होता है इस में 'पुरुषश्चान्वादिष्टः' (६।२।१९०) सूत्र और उसकी वृत्ति प्रमाण है ।

९८९. नक्तकेन—समौ नक्तककर्पटौ (अमर) । इसपर क्षीर स्वामी का वचन है—द्रवद्रव्यं येन पूयते तत्र रूढोऽयं (नक्तकशब्दः), तत्तुल्येपि वस्त्रे वर्तते ।

९९०. क्षुल्लकः—निहीनोऽपसदो जाल्मः क्षुल्लकश्चेतरश्च सः (अमर) ।

९९१. जयेन—अश्व अर्थ में 'जयः करणम्' (६।१।२०२) की वृत्ति प्रमाण है । जयत्यनेनेति जयोऽश्वः ।

९८७. जो सज्जनों की संगति करता है वह परमपुरुषार्थ (=मोक्ष) के लिये यत्न करता है।

९८८. इस ग्राम में हम गौण हैं। यज्ञदत्त आदि ही ऊँचे पद को प्राप्त हैं।

९८९. नतने (पं० पोने) से दूध छान लो। विना छाने दूध नहीं पीना चाहिये विशेषकर गौ का।

९९०. क्षुद्र पुरुष के साथ मेल किसके कल्याण के लिये हो सकता है। वह साँप की तरह बुरी तरह डसता है।

९९१. घोड़े अथवा हाथी से युद्धों में शत्रुओं पर विजय पाते थे।

९९२. 'विसर' और 'विसार' में क्या भेद है इसे यदि तू जानता है तो निश्चित ही बहुत जानता है।

९९३. यह मैली-कुचैली है, यह रजस्वला है, दोनों से दूर रहना चाहिये।

९९४. मङ्गल चाहने वाला मनुष्य अक्षत किनारे वाले वस्त्र को पहने।

९९५. यदि तू 'पटच्चर' (जीर्ण वस्त्र खण्ड) और 'पाटच्चर' (चोर) की व्युत्पत्ति जानता है तो (निश्चय ही) वैयाकरण है।

---

९९२. विसरः—विसर समूह को कहते हैं। विशिष्टः संश्लिष्टावयवः सन् सरतीति। पचाद्यच्। विसारः—'विसार' मत्स्य को कहते हैं। 'सृ स्थिरे' (३।३।१७) के ऊपर 'व्याधिमत्स्यबलेष्विति वक्तव्यम्' इस वार्तिक से 'मत्स्य' अर्थ में विपूर्वक सृ से कर्ता अर्थ में घञ् होता है—विविधं सरतीति विसारः। अमर भी इसे मत्स्य के पर्यायों में पढ़ता है।

९९३. मलिनी—अर्थ रजस्वला। स्त्रीधर्मिण्यात्रेयी मलिनी पुष्पवत्यपि—अमर। इन्नन्त मलिन् से स्त्रीत्व में ङीप्। 'मलिन' से टाप्।

९९४. माङ्गलिकः—मङ्गलप्रयोजनः, जिसे मंगल चाहिये। प्रयोजनम् (५।१।१०९) से ठञ्।

९९५. पटच्चरं जीर्णवस्त्रम् (अमर)। पट इवाचरति पटति। आचार अर्थ में क्विप्। शत्रन्त पटत् से 'भूतपूर्वे चरट्' (५।३।५३) से चरट् प्रत्यय।

९९६. हर्षमाणो देवदत्तः सर्वं कुलं स्मितविकस्वरं करोति।

९९७. गत्वर्यः सम्पद इत्वर्य इव पुरुषात्पुरुषान्तरं संक्रामन्ति।

९९८. घृणिनः संविभागिनः पूर्वे क्षत्रिया महामहेषु प्रवारणं चक्रिरे।

९९९. व्यशारि मे मन्थानस्य नेत्रम् तेन सत्यामपि मन्थन्यां न कालशेयमर्हामि पातुम्।

१०००. इयं शबली, इयं च धवला। उभे अपि कुण्डोध्न्यौ।

अर्थ हुआ जो पहले पट का काम देता था। पाटच्चरः = चौरः। पाटयन् सन्धिं छिन्दंश्चरतीति। शाब्दिकः—शब्दान्करोति व्याकरोतीति। 'शब्ददर्दुरं करोति' (४।४।३४) से ठक् प्रत्यय होता है। 'शाब्दिक' वैयाकरण को कहते हैं।

९९६. हर्षमाणः—हृष् से 'ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश्' (३।२।१२९) से ताच्छील्य अर्थ में चानश् (आन) प्रत्यय हुआ है। आन (शानच्, चानश्) की आत्मनेपद संज्ञा है। अमर का पाठ है—हर्षमाणो विकुर्वाणः प्रमना हृष्टमानसः।

९९७. गत्वर्यः—'गत्वरश्च' (३।२।१६४) से गत्वर शब्द क्वरप् प्रत्ययान्त निपातन किया है. [illegible] में ङीप् आने पर 'गत्वरी' रूप होता है। इत्वर्यः—'इण्नशजिसर्तिभ्यः क्वरप्' (३।२।१६३) से इण् गतौ से क्वरप्। स्त्रीत्व में ङीप् इत्वरी=कुलटा। पुंश्चली धर्षणी बन्धक्यसती कुलटेत्वरी—अमर। 'इण्नशजिसर्तिभ्यः क्वरप्' (३।२।१६३) से इण् गतौ से क्वरप्। इत्वरी= चलनशील, पुंश्चली।

९९८. घृणिनः—घृणा कृपाऽस्त्येषाम्। 'घृणा' से 'व्रीह्यादिभ्यश्च' (५।२।११६) से मत्वर्थीय इनि हुआ। संविभागिनः—संविभागः संविभज्य

९९६. प्रसन्न चित्त रहने वाला देवदत्त अपने सारे कुल को मुस्कान से विकसित कर देता है।

९९७. चञ्चल सम्पदाएँ कुलटाओं की तरह एक को छोड़ कर दूसरे के पास चली जाती हैं।

९९८. कृपालु, बाँटकर खाने वाले प्राचीन क्षत्रिय महोत्सवों पर काम्य-दान किया करते थे।

९९९. मेरे मन्थदण्ड की नेती टूट गई है। मटकी होने पर भी मैं मठा नहीं पी सकता।

१०००. यह चितकबरी गौ है और यह श्वेत है। दोनों कुण्ड भर दूध देने वाली हैं।

भोगः, स एषामस्ति, ते। महामहेषु—महत्सूत्सवेषु। उत्सव अर्थ में 'मह' अदन्त पुँ० है। तेज अर्थ में सान्त नपुँ० है। काम्यदानं प्रवारणम्—अमर। जो किसी ने माँगा सो देना।

९९९. कालशेयम्—दण्डाहतं कालशेयम्—अमर। कलशौ कलश्यां गर्गर्यां भवं कालशेयम्। 'दृतिकुक्षिकलशिवस्त्यस्त्यहेर्ढञ्' (४।३।५६) से कलशि शब्द से ढञ् प्रत्यय होता है।

१०००. शबली—'अन्यतो ङीष्, (४।१।४०) से ङीष् होता है। कुण्डोध्न्यौ—कुण्डमिव ऊधो यस्याः सा कुण्डोध्नी। ते कुण्डोध्न्यौ। 'ऊधसोऽनङ्, (५।४।१३१) से तथा ऊधसोऽनङि स्त्रीग्रहणं कर्तव्यम्' इस वार्तिक से अनङ् समासान्त होता है। 'बहुव्रीहेरूधसो ङीष्' (४।१।२५) से स्त्रीप्रत्यय ङीष् होता है। व्यशारि—विशॄ—कर्मकर्तरि लुङ्।

इति श्रीचारुदेवशास्त्रिणः कृतिषु वाक्यमुक्तावली नामेयं पुस्तिकाऽवसिता।

शुभं भूयादध्यापकानामध्यायकानां च।

विशदमधुरवाक्यव्रात इत्थं गृहीतो
व्यवहृतिपरमाभ्यो मामिकाभ्यः कृतिभ्यः ।
चिकथयिषिततत्तन्नव्यभव्यार्थसार्थै
प्रमितिरुचिरपद्यां वाग्विदां ख्यास्यतेऽयम् ॥ १ ॥

पदविचितिप्रणीतिं वाक्यमित्येवमाहु-
र्विरससरसता नो सम्मता लक्षणेऽन्तः ।
तदपि रुचिरगात्रां वर्जयित्वेव योषां
विकटविषमकृत्यां को वृणीते विरूपाम् ॥ २ ॥

सर्वो निसर्गात्कमनीयकम्रो
लोको विरूपाद्विजुगुप्सतेऽयम् ।
यथा नियामोऽन्यपदार्थकेषु
तथा ह्यनेकासु विधासु वाचाम् ॥ ३ ॥

ततोऽनवद्या सरणिर्विचित्रा
लोक्या विलोक्याऽपि च शिष्टजुष्टा ।
देश्येति कृत्ये विनिधाय चेतो
व्यापीपरं स्वं नवसङ्ग्रहेऽस्मिन् ॥ ४ ॥

हा हा कष्टं लोकभाषाप्रभावाद्
वैधुर्याद्वा शास्त्रसंशीलनस्य ।
विभ्रंशाद्वा सूक्ष्मसंवीक्षणस्य
लोकाः प्रायः प्रस्मृताः शिष्टवर्त्म ॥ ५ ॥

येषां कामो वाचि नः श्रीः समस्तु
चारुत्वं वा सम्प्रसत्त्या चकास्तु ।
माधुर्यं वा कान्तिसम्पृक्तमस्तु
कृत्यां मेऽस्यां ते रमेरन्निकामम् ॥ ६ ॥